अथवा परतंत्र समाज में शिक्षा साधन होता है, सत्ता साध्य और शासन कहीं साधन कहीं साध्य । शिक्षा साधन और साध्य दोनों हो, यह विकास की चरम सीमा है । वहां पहुंचने पर रास्ता और मंजिल दोनों एक हो जाते है । शिक्षा आयोग रास्ता और मंजिल दोनों में से किसी को भी असंदिग्ध रूप से नहीं सुझा पाया ।

आयोग को अंत में यह कहना चाहिए था, जैसे कि उन्होंने प्रारंभ में ही कहा था, कि अंग्रेजी को शिक्षा-माध्यम और शासन-माध्यम दोनों रूप में जाना चाहिए क्योंकि वह जनतंत्र की अवहेलना करती है । साथ ही साथ, तत्पश्चात् नहीं, यह भी कहना चाहिए था कि कोई भी भारतीय भाषा माध्यम रूप में अपनाई जानी चाहिए । वह भाषा कौन-सी हो इसका निर्णय जनता करे । संक्षेप में : अंग्रेजी भारतीय भाषाओं के समकक्ष नहीं है, भारतीय भाषाएं ही एक-दूसरे के समकक्ष हैं । किंतु प्रश्न को यह कहकर उलझा दिया गया कि अंग्रेजी तो अखिल भारतीय भाषा है, हिंदी केवल क्षेत्रीय भाषा है । अतः अखिल भारतीय भाषा का स्थान क्षेत्रीय भाषा कैसे ले सकती है ? सवेरे चले थे शाम को वापस वहीं पहुंच गए ।

27
मेहमान की नजर से

सवेरे का अंधेरा बड़ा पवित्र होता है । विशुद्ध मन के लिए वह ब्राह्म मुहूर्त है जिसमें निर्मल सत्य के दर्शन हो सकते हैं । किंतु नजर का दोष हो तो धुंधला दीखता है, बुद्धि का दोष हो तो उलटा दीखता है और स्मृति का दोष हो तो सूर्य में भी वही रंग दीखते हैं जो स्मृति-पटल से उभरकर आते हैं । 1948-49 में शिक्षा और भाषा के संबंध में भी हमारे साथ ऐसा ही हुआ । डेढ़ सौ वर्ष की स्मृतियां उभरकर हमारे सामने आ गईं और हमारे विचारों पर छा गईं । हमारे विचारों का अर्थ है विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग और उनके बहुत सारे सहयोगी जो अंग्रेजी के रंग में रंगे थे और चोला बदलना नहीं चाहते थे । हो सकता है आदत से मजबूर हों ।

1947-स्वतंत्रता का प्रवेश-द्वार था और अंग्रेजी शासन का निकास-द्वार । इस नाते स्वतंत्र भारत का पहला शिक्षा आयोग स्वतंत्र शिक्षा का सिंहद्वार होना चाहिए था । ऐसी ही प्रेरणा लेकर आयोग ने कहा था कि शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए मानव को अच्छा नागरिक बनाना, स्वतंत्र विचार और सही नेतृत्व की क्षमता देना और इसके लिए उसे अपनी परंपरा से जोड़कर आगे चलने की प्रेरणा देना । इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए मनुष्य का शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक विकास आवश्यक है । आयोग ने यह सब कुछ कहा और यह भी कहा कि भारत का आर्थिक और सामाजिक विकास तभी होगा जब हमारे नागरिकों का सर्वांगीण और सामूहिक विकास होगा । अंग्रेजी भाषा से इन स्वतंत्र मुद्दों की पूर्ति नहीं हो सकती थी । गांधी जी, रवीन्द्र ठाकुर, श्री अरविंद आदि यह कह चुके थे । आयोग के सदस्य इन तथ्यों से अनभिज्ञ नहीं थे । वे तो स्वयं कह चुके थे कि अंग्रेजी दासता और विभाजन का प्रतीक है । स्वतंत्र भारत को भाषा का फेरबदल करना होगा, इस फेरबदल के लिए चाहे कितनी ही तकलीफ क्यों न उठानी पड़े और कितनी ही कीमत क्यों न चुकानी पड़े । आयोग ने बलपूर्वक कहा कि अंग्रेजी वही स्थान भारत में नहीं रख सकती जो पहले था । तो अंग्रेजी के स्थान पर कौन-सी भाषा आए ? उत्तर : यह स्थान केवल हिंदी ले सकती है । (रिपोर्ट I, पृ० 316, 319)

एक बार तो ऐसा लगा जैसे निकास-द्वार से अंग्रेजी तो गई और प्रवेश-द्वार से हिंदी आई । अंग्रेज तो दो दिन (शताब्दी) के मेहमान थे चले गए । अंग्रेजी मेहमान की भाषा थी, वह भी तो जानी चाहिए थी । पर गई नहीं, उसे निकास-द्वार तक जाने ही नहीं दिया गया मानो मेजबान ने रास्ता रोक लिया हो । वास्तव में मेहमान तो गया पर चश्मा छोड़ गया और 'फौरन' के लालच में हिंदुस्तानियों ने पहन लिया । सब कुछ अंग्रेजी ही अंग्रेजी दीखने लगा । अंग्रेजीदानों

के अतिरिक्त कहीं आंखें टिकती ही न थीं । आयोग ने कह दिया कि यद्यपि राष्ट्र की मांग तो है कि हिंदी (हिंदुस्तानी) राष्ट्र की केंद्रीय भाषा बने, पर इसे वह रोल तो नहीं दिया जा सकता जो अंग्रेजी ने अदा किया है (रिपोर्ट I, पृ० 319) । कारण ? हिंदी अल्पसंख्यकों की भाषा है और इसके आने से अहिंदी-भाषी क्षेत्र की अपेक्षा हिंदी-भाषी क्षेत्र को अनुचित लाभ होगा (पृ० 321, 319) । अंग्रेजी सबके लिए समान है (पृ० 320) । सबै के दुःख समान, ऐसा वर दे मां ।

तो बात क्या बनी ? बात यह बनी कि जब तक हिंदी न आए तब तक अंग्रेजी चले और जब तक अंग्रेजी चले तब तक हिंदी न आए । चश्मा अपना काम कर गया । न हिंदी, न क्षेत्रीय भाषाएं । जनतंत्र के अंदर जनभाषा क्यों नहीं ? यह सवाल ब्रिटेन की जनता ने 1362 में अपनी सरकार से पूछा था और 1363 में ही उनकी अपनी भाषा प्रशासन में आ गई थी । हमारी जनता तो यह सवाल पूछ नहीं सकती थी । उसे तो पसीना पोंछने से ही फुरसत नहीं मिलती । तो सवाल कौन पूछे और किसके लिए पूछे ? यह सवाल यहां की जनता भी कभी न कभी तो पूछेगी । यह सवाल केवल वे लोग पूछ सकते हैं और केवल वे ही इसका उत्तर दे सकते हैं जो जनता और उसकी भाषा एवं समस्याओं को अंदर से जानते हों । केवल ऐसे आदमी ही सही सवाल उठा सकते हैं । सही जवाब के लिए सवाल का सही होना भी आवश्यक है ।

आइए, देखें कि शिक्षा समस्याओं पर सवाल पूछने वाले कौन थे, क्या सवाल पूछे गए, जवाब देने वाले कौन थे और क्या जवाब दिए गए ?

सवाल पूछने वाले तो आयोग के सदस्य ही थे, ये थे :

1. डॉ० एस० राधाकृष्णन, प्रोफेसर आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय, अध्यक्ष ।
2. डॉ० ताराचंद, एम०ए०, डी०, फिल्० (आक्सफोर्ड), सचिव एवं शिक्षा एडवाइजर, भारत सरकार ।
3. डॉ० जेम्ज़ एफ० डफ़, एम० ए० (कैम्ब्रिज), एम०एड्० (मांचेस्टर), एल-एल०डी० (एबरडीन), कुलपति, डरहम विश्वविद्यालय ।
4. डॉ० जाकिर हुसैन, एम०ए०, पी-एच०डी०, डी०लिट्० (जामिया मिलिया इस्लामिया, दिल्ली) ।
5. डॉ० आर्थर ई० मॉर्गन, डी०एस-सी०, डी०इंज०, एल-एल०डी०, प्रधान एंट्यक कालेज एवं प्रधान, टेनेसी वैली अथॉरिटी ।
6. डॉ० अ० लक्ष्मणस्वामी मुदलियार, डी०एस-सी०, एल-एल०डी, डी०सी०एल०, एफ०आर०सी०ओ०जी०, एफ०ए०एस०सी०, कुलपति, मद्रास विश्व-विद्यालय ।
7. डॉ० नेघनाद साहा, डी०एस-सी० एफ०आर०एस०, प्रोफेसर एवं डीन, विज्ञान संकाय, कलकत्ता विश्वविद्यालय ।
8. डॉ० कर्मनारायण बहल, डी०एस-सी० (पंजाब), डी०फिल्० एवं डी०एस-सी० आक्सफोर्ड), प्रोफेसर जीवविज्ञान, लखनऊ विश्वविद्यालय ।
9. डॉ० जॉन जे० टिगर्ट, एम०ए० (आक्सफोर्ड), एल-एल०डी०, एड०डी०, डी०सी०एल०, डी०लिट्०, एल०एच०डी०, भूतपूर्व शिक्षा कमिश्नर उत्तर प्रदेश एवं प्रेजीडेंट एमरीटस, फ्लोरीडा विश्वविद्यालय ।
10. श्री निर्मल कुमार सिद्धांत, एम०ए० (कैम्ब्रिज), प्रोफेसर तथा डीन, कला-संकाय, लखनऊ विश्वविद्यालय ।

आयोग के अध्यक्ष तथा सदस्य अपनी शिक्षा, विद्वत्ता, प्रतिभा और प्रतिष्ठा के कारण हमारे लिए आदरणीय थे और उनकी पुण्य स्मृति भी श्रद्धा की पात्र है । किंतु एक-दो सदस्यों को छोड़कर क्या कोई भी भारत की जनता या यहां के जनांदोलन के साथ एकात्म होकर आंतरिक रूप से आंदोलित हुआ था ? क्या वे उस किसान या मजदूर को जानते थे जिसने अपनी जमीन या मकान को बेचकर बेटे को बी०ए० कराकर एक ऊंचे सरकारी भविष्य की उड़ान भरी थी और अंग्रेजी में असफल रहकर जिसके बच्चे ने दम तोड़ दिया था ? यदि ब्रिटिश कालीन सरकार कोई आयोग नियुक्त करती तो इस आयोग से किस प्रकार भिन्न रूप का होता ? डॉ० ज़ाकिर हुसैन को छोड़कर क्या शेष सभी सदस्य ब्रिटिश सरकार के लिए भी आयोग के रूप में काम नहीं कर सकते थे ? यदि वे ब्रिटिश काल में रिपोर्ट लिखते तो क्या ऐसी ही रिपोर्ट नहीं लिखते ? मुख्य प्रश्न यह है कि इस आयोग की रिपोर्ट कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग (1917-19) की रिपोर्ट से कैसे और कितनी भिन्न है ? अंतर केवल इतना है कि 1947 से पहले सरकारी आदमी ब्रिटिश साम्राज्य और सम्राट की देन की गाथा गाते थे, यहां अंग्रेजी भाषा की देन के साधु संकल्प किए गए हैं । 1947 में भारत के इतिहास ने जैसे एक छलांग लगाई थी वैसे 1949 में भारत की चिंतन-धारा, चिंतन-शैली और चिंतन-भाषा को एक लंबी और ऊंची छलांग लगाकर लंदन से दिल्ली पहुंच जाना चाहिए था । पर हुआ यह कि न दिशा बदली, न सफर बदला, न साथी ही बदले, आयोग के सदस्यों में दो प्रकार के सदस्य होने चाहिए थे : एक वे जो वर्तमान को अतीत से जोड़ते, क्योंकि हम जीवन के निरंतर प्रवाह में विश्वास करते हैं, और दूसरे वे जो वर्तमान को गहरे अतीत (प्राचीन परंपरा) और सुदूर भविष्य से जोड़ते । इस प्रकार ब्रिटिश काल की उपलब्धियों का एक जीती-जागती भारतीयता के अंदर समावेश हो जाता और समाज, शिक्षा और प्रशासन को नई दिशाएं भी मिलतीं ।

शिक्षा-माध्यम संबंधी प्रश्नावली को यदि आप देखें तो लगता है कि ये प्रश्न शायद उन्नीसवीं शती में पूछे गए हों । उदाहरणार्थ, प्रश्न नं० 7 देखिए : "क्या आप सारी भारतीय भाषाओं के लिए रोमन लिपि के अपनाए जाने के पक्ष में हैं ?" यह प्रश्न तो 1838 अर्थात् अंग्रेजी शिक्षा एवं माध्यम के औपचारिक रूप से लागू होने के तीन वर्ष बाद लार्ड मकाले के साले/बहनोई (आप जानते हैं अंग्रेजी में साले-बहनोई का पता नहीं लगता) चार्ल्स ट्रेवेल्यन ने उठाया था । उनका मिशन तो यह था कि बाइबल को भारत की सभी भाषाओं में अनुवाद करके रोमन लिपि में छापा जाए । किंतु विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग के सामने यह समस्या तो थी ही

नहीं । हां, उन्हें एक समस्या की ओर ध्यान देना चाहिए था : भारत की सारी भाषाएं एक-दूसरे के निकट कैसे आएं ताकि कुछ समय के पश्चात् भारत में अनायास एक समन्वित भाषा का उदय और विकास हो सके । आयोग ने इधर ध्यान ही नहीं दिया । उन्होंने यह सिफारिश भी नहीं की कि भारतीय भाषाएं कम से कम ऐच्छिक रूप से देवनागरी या किसी भी एक भारतीय लिपि में लिखी जाएं । यहां देवनागरी लिपि का प्रश्न इसलिए उठाया जा रहा है क्योंकि आयोग ने हिंदी को देवनागरी लिपि में लिखने की सिफारिश की है, केंद्रीय भाषा के रूप में । आयोग ने रोमन लिपि की सिफारिश नहीं की । साथ में हिंदी की दूसरी लिपि के रूप में उर्दू लिपि की भी सिफारिश नहीं की । प्रश्न यह भी हो सकता था कि क्या आप भारतीय भाषाओं के लिए देवनागरी लिपि के प्रयोग के पक्ष में हैं । अथवा यह हो सकता था कि क्या आप भारतीय भाषाओं को एक लिपि में लिखने के पक्ष में हैं ? यदि हैं तो वह लिपि कौन-सी हो : देवनागरी, रोमन या कोई और ? हां, यदि रोमन लिपि का विरोध व्यक्त करने के लिए प्रश्न इस तरह बनाया गया हो तो दूसरी बात है । तो भी प्रश्न व्यर्थ ही रहा । सकारात्मक दिशा में तो कोई भी निदेश नहीं हुआ ।

प्रश्न सं० एक और दो को देखिए :

1. आजकल शिक्षा-माध्यम के रूप में क्षेत्रीय भाषाएं उभरकर आ रही हैं । क्या आप इस परिवर्तन के पक्ष में है ?
2. शिक्षा के क्षेत्र में इस भाषायी क्षेत्रवाद के कारण देश की एकता और अखंडता तथा सांस्कृतिक स्तर पर अवांछनीय प्रभाव पड़ेगा, क्या आपको यह आशंका है ?

आजकल अनुसंधान कार्य में एक शैली अपनाई जाती है । जो कुछ आप कहना चाहते हैं वह दूसरों से कहलवा लीजिए और जो आप दूसरों से कहलवाना चाहते हैं उसी के अनुसार अपने प्रश्न बना लीजिए । इन दोनों प्रश्नों में कुछ ऐसा ही आशय झलकता है । प्रश्न दूसरे ढंग से भी पूछा जा सकता था । हमारी शिक्षा का उद्देश्य वैयक्तिक होता है और सामाजिक भी । इन दोनों उद्देश्यों को सामने रखते हुए हमें सोचना यह चाहिए कि शिक्षा प्रभावशाली हो और समाज और देश की एकता और संगठन में योगदान दे । प्रश्न कुछ इस प्रकार होना चाहिए था कि शिक्षा को प्रभावशाली बनाने के लिए कौन-सा माध्यम अपनाया जाए ? मातृभाषा, क्षेत्रीय भाषा, विदेशी भाषा । क्यों ?

क्या आप देश की एकता और विविधता दोनों में विश्वास करते है ? यदि हां, तो विविध माध्यमों के होते देश की एकता पर कोई उलटा प्रभाव पड़ेगा, या एकता और पक्की होगी ?

यहां यह कहा जा सकता है कि जो आक्षेप हमने आज के सामाजिक अनुसंधान पर किया है वही हमारे सुझाव पर भी लागू होता है । इस प्रश्न का उत्तर है : प्रथम अपना दिशा-निर्धारण कीजिए, फिर अपने प्रश्न बनाइए । प्रश्नों के माध्यम से हम आयोग के दृष्टिकोण, दिशा और लक्ष्य को ही तो समझना चाहते हैं ।

यहां एक आपत्ति और की जा सकती है : जो आलोचना हमने आयोग की प्रश्नावली की

की है वही हमारे सुझाव की भी की जा सकती है । यह बात ठीक है पर हमें यह मानना होगा कि जनतंत्र में विकास की जो प्रक्रिया आवश्यक और अनिवार्य है व्यवस्थानुसार उसके तीन अंग हैं : 1. दिशा-निर्धारण, 2. दिशा-निदेश, 3. स्थिति और परिस्थितियों का सर्वेक्षण ।

दिशा-निर्धारण तो अंतिम मान्यताओं के आधार पर किया जाता है । ये मान्यताएं ही गणतंत्र का धर्म होती हैं । ये सब हमारे विधान के उपोद्घात में सुरक्षित हैं । ये मूल्य (मान्यताएं) हैं जनतंत्र, मानव लोकधर्म (सेक्युलरिज्म), स्वतंत्रता, समता, न्याय इत्यादि । इन्हीं मान्यताओं की सिद्धि के लिए राष्ट्र की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा शिक्षा संबंधी प्रक्रियाओं का दिशा-निदेश किया जाता है । यह दिशा-निदेश हमारे विधान के निदेशक सिद्धांतों तथा समय-समय पर निर्धारित नीति-वक्तव्यों में निहित होता है । स्थिति और परिस्थितियां—ये हमारे समस्त क्रियाकलाप का आधार हैं । हम जो है और जहां हैं और जैसे हैं वहीं से हम अपनी प्रगति की ओर चलना प्रारंभ करते हैं ।

इन्हीं बातों को दूसरे प्रकार से कह सकते हैं : जनतंत्र में कुछ सत्य ऐसे हैं जो अनिवार्य रूप से माने जाने चाहिए ।

1. जो है सो है, वही सच है, वही वस्तुस्थिति है, वही वास्तविकता है, अच्छी हो, बुरी हो, जो भी हो । वही आधार है, वही साधन है ।
2. जो होना चाहिए वही वांछनीय है, वही लक्ष्य है, वही साध्य है । वह भी वस्तुस्थिति है जिसका सर्जन बुद्धि और कल्पना से किया जाता है, वही प्राप्य है ।
3. वस्तुभूत स्थिति अर्थात् प्राप्त साधन का प्राप्य अर्थात् साध्य की ओर अग्रसर होना, यही दिशा है ।
4. वास्तविक का वांछनीय स्थिति में लाया जाना, यही गणतंत्र की प्रक्रिया है । यह आंतरिक परिवर्तन है ।
5. गणतंत्र और तानाशाही में क्या अंतर है ? वास्तविक को वांछित में बाहर से बदल देना तानाशाही है । वास्तविक का आंतरिक परिवर्तन के द्वारा वांछित में परिणत हो जाना, यह गणतंत्र है ।
6. आंतरिक परिवर्तन का साधन शिक्षा है । साधन-शिक्षा साधन का अंग है, साध्य-शिक्षा साध्य का अंग है ।
7. दिशा-निदेश शिक्षा का काम है । शिक्षा को नई दिशा देना गणतंत्र का काम है ।

शिक्षा सबका अधिकार है, इसलिए शिक्षा के दिशा-निदेशकों को यह देखना होगा कि हमारी सामाजिक वस्तुस्थिति क्या है, शिक्षार्थी कौन है, उनकी क्या आवश्यकताएं हैं, और उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति किस प्रकार की शिक्षा से की जा सकती है ? सही दिशा-निदेश के लिए समस्त वास्तविकता का सर्वेक्षण करना होगा । इसी समस्त-वस्तुभूत सर्वेक्षण के लिए उचित प्रश्नावली बनानी होगी । गणतंत्र में दिशा-निदेश सत्तासिद्ध नहीं होता, गणतंत्र के सिद्धांतों और प्रक्रियाओं के अनुरूप होता है ।

विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग यदि लड़खड़ाया तो यहां । और यदि उसने दिशा-निदेश किया भी, तो भी वहीं का वहीं रहा । क्षेत्रीय भाषाओं के शिक्षा-माध्यम होने के विषय में क्षेत्रवाद और देश की एकता और अखंडता के प्रति नकारात्मक संकेत करना एक अंग्रेजी पूर्वाग्रह की अभिव्यक्ति नहीं तो और क्या था ? प्रश्न पूछने वाले और उत्तर देने वाले सभी अंग्रेजी रंग में रंगे थे, यह हम आयोग की रिपोर्ट के परिशिष्ट से देख सकते हैं ।

कई प्रश्न इस तरह से उठाए गए मानो यह कहलवाना चाहते हों कि क्षेत्रीय भाषाओं को यदि माध्यम रूप में अपनाया गया तो शिक्षा तथा अनुसंधान का स्तर गिर जाएगा और विश्वविद्यालयों का परस्पर संपर्क भी बिगड़ जाएगा । बात वही, अर्थात् क्षेत्रीय भाषाओं को अपनाने का अर्थ है क्षेत्रवाद । इसी क्षेत्रवाद का निराकरण करने के लिए शायद एक ही माध्यम का होना आवश्यक था । ब्रिटिश काल में तो वह माध्यम था अंग्रेजी जो अभी भी चल रहा था । स्वतंत्र भारत में यह दासता का प्रतीक माध्यम रूप में नहीं रहना चाहिए था । दिशा-निदेश तो सराहनीय और भारतीय गणतंत्र के आत्मा की आवाज के अनुरूप ही था । किंतु यह तो मात्र नकारात्मक संकेत था । सकारात्मक सुझाव क्या था ? वह था : हिंदी । हिंदी ही अखिल भारतीय भूमिका शायद निभा सकती थी । आयोग ने यह माना था । इसी कारण एक खुला प्रश्न पूछा गया—यदि आप सारे भारत के विश्वविद्यालयों के लिए एक ही माध्यम के पक्ष में हैं तो वह भाषा क्या हो ? इस प्रश्न का उत्तर अत्यंत महत्त्वपूर्ण था । नई शिक्षा के सिंहद्वार पर खड़े हम इसी उत्तर के आधार पर किसी भी दिशा में जा सकते थे अर्थात् अंग्रेजी राज को दोहरा भी सकते थे और स्वच्छंद रास्ते पर भी जा सकते थे ।

यदि गणतंत्र में जनता के लिए जनशैली से विचार किया जाए तो इस प्रश्न का उत्तर उन्हीं से तो मांगना चाहिए जो अंग्रेजी की समस्या से जुड़े हैं—जिनके लिए इसका प्रभाव सीधा है उनसे भी और जिनके लिए उलटा है उनसे भी । शिक्षक, शिक्षार्थी, अभिभावक, प्रशासक सभी तो शिक्षा जगत् और जनता का अंग हैं । उन सभी से पूछा जाना चाहिए था । विभिन्न प्रकार की शिक्षा संस्थाएं भी शिक्षा-जगत् का अंग हैं । उनसे और उनके संबंध में भी प्रश्न पूछे जाने चाहिए थे । उदाहरणार्थ आयोग ने उस्मानिया विश्वविद्यालय के बारे में प्रश्न पूछा : क्या उस्मानिया द्वारा अपनाया गया उर्दू-माध्यम का प्रयोग आपकी राय में सफल हुआ ? हम यह तो नहीं कह सकते कि उस्मानिया सशक्त उदाहरण था या कमजोर, किंतु उत्तरों से ऐसा लगता है कि अधिकतर लोग उस्मानिया के प्रयोग को सफल नहीं मानते थे । किंतु उस्मानिया को यदि उदाहरण ही माना गया तो उस्मानिया से तो पूछते कि आपके मत में उर्दू-माध्यम सफल है या नहीं । कमाल की बात यह है कि डॉ० जाकिर हुसैन स्वयं आयोग के सदस्य थे, जामिया मिलिया के स्नातक थे, किंतु जामिया के उर्दू माध्यम के संबंध में कोई प्रश्न नहीं पूछा गया । जामिया मिलिया को आयोग ने विजिट तो किया, उर्दू-माध्यम की चर्चा भी हुई होगी, पर माध्यम संबंधी कोई चर्चा जामिया मिलिया के संबंध में नहीं है । गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार भी देश की उच्चतम प्रयोगात्मक शिक्षा संस्थाओं में से एक थी और बीसवीं शती के प्रारंभ से ही हिंदी-माध्यम से

बी०ए० (विद्यालंकार) और एम०ए० (विद्यावाचस्पति) स्तर तक वहां सभी विषय, विज्ञान समेत पढ़ाए जा रहे थे । गुरुकुल के स्नातक जामिया मिलिया के स्नातकों की तरह देश के राजनीतिक, सामाजिक एवं पत्रकारिता क्षेत्र में उच्च स्तर की भूमिका निभा रहे थे । ऐसी उपलब्धियों की कोई चर्चा नहीं । हां, आचार्य प्रियव्रत, गुरुकुल कांगड़ी, के विचार उद्धृत किए गए हैं । हम उनका आंशिक उद्धरण देते हैं । आचार्य जी कहते हैं (रिपोर्ट, II, भाग 2, पृ० 813) : गुरुकुल कांगड़ी पहली संस्था है जिसने पश्चिमी कला (साहित्य) तथा विज्ञान विषयों को उच्चतम स्तर तक पढ़ाने के लिए हिंदी माध्यम का प्रयोग किया है । हिंदी में लेक्चर दिए गए, हिंदी में प्रश्न-पत्र बनाए गए, और प्रश्नों के उत्तर भी हिंदी में लिखे गए । किंतु अंग्रेजी की पाठ्य पुस्तकों का प्रयोग किया गया क्योंकि हिंदी में अधिक पुस्तकें उपलब्ध नहीं थीं । बी०ए० तक अंग्रेजी अनिवार्य दूसरी भाषा के रूप में पढ़ाई जाती है । इसलिए हिंदी वक्तव्यों की सहायता से अंग्रेजी पुस्तकों को समझने में कोई कठिनाई नहीं होती । गुरुकुल के परिणाम भी अच्छे रहते हैं । भारत के सभी विश्वविद्यालय इस प्रणाली को अपना सकते हैं विशेषकर तब तक जब तक हिंदी में ठीक प्रकार की पाठ्य-पुस्तकें नहीं मिलतीं, और वे सफलतापूर्वक ऐसा कर सकते हैं ।

गुरुकुल कांगड़ी का यह प्रयोग सफल था, पर इसकी चर्चा कहीं नहीं । चर्चा तो तब हो जब देखने की इच्छा हो और दीखे तब जब ऐनक देसी हो । ऐनक तो विदेशी थी, ठेठ अंग्रेजी । डॉ० जाकिर हुसैन भी कोई योगदान भारतीय भाषाओं की दिशा में नहीं दे पाए ।

अब देखें प्रश्नों के उत्तर देने वाले कौन थे, उत्तर क्या थे, और उन्हीं के आधार पर निष्कर्ष क्या निकाले गए । कहीं ऐसा तो नहीं हो गया कि डॉक्टर दवा ले गए और मरीज खड़े के खड़े रह गए ।

आयोग ने 4-12-48 से 19-7-49 तक संस्थाओं का दौरा किया तथा शिक्षा और समाज से संबद्ध व्यक्तियों, अफसरों और प्रतिनिधियों से साक्षात्कार किया । ये संस्थाएं थीं विश्वविद्यालय, उनके विभिन्न संकाय, विभाग, कुलपति, डीन, प्रोफेसर, विभागाध्यक्ष, कालेज, प्रिंसिपल, रीडर, लेक्चरर, सिंडिकेट, इग्जेक्टिव काउंसिल, कुछ स्टाफ परिषद्, एक छात्र (जयपुर, उसके विचार व्यक्त नहीं हैं), लोकसेवक समाज, भारत इतिहास संशोधक मंडल, पूना और लार्डरी औद्योगिक संग्रहालय पूना । ये सब ऐसे लोग थे जो अंग्रेजी के आधार पर अपना काम सुचारु रूप से कर रहे थे । केवल एक छात्र परिषद् को छोड़कर शेष अंग्रेजी-निपुण थे । उनको अंग्रेजी से कोई तंगी भी नहीं थी । हो सकता है उनके घरों में वातावरण भी अंग्रेजी के वातानुकूल हो और उनके बच्चों को अंग्रेजी के कारण कोई परेशानी न होती हो । ये सब उस वर्ग के लोग थे जो अंग्रेजी शिक्षा की परंपरा में अंग्रेजीवाद में परिपक्व हो चुका था । हो सकता है इनमें कुछ अंग्रेजी अपवाद भी हों लेकिन साधारण तौर पर असाधारण वर्ग को अंग्रेजी के विपक्षी या विरोधी कहने की अपेक्षा अंग्रेजी के पक्षधर ही कहा जाएगा । किसी का घर, किसी की जीविका, किसी का व्यवसाय, किसी की सभ्यता, किसी का पति, किसी की पत्नी, किसी के सेवक, किसी के मालिक, सबके सब किसी न किसी रूप में कुछ न कुछ अंग्रेजी से जुड़े हुए थे । इनसे पूछकर उन लोगों के

भाग्य का फैसला करना जिनकी जिह्वा पर अंग्रेजी चढ़ नहीं पा रही थी, यह अच्छा नहीं था, रोगी बाहर खड़े थे, परीक्षा डाक्टरों की हो रही थी ।

जनतंत्र क्या है ? जनता की सरकार (लोकस्य), जनता के द्वारा (लोकेन), जनता के लिए (लोकाय) । आयोग ? यह जनता का था और यह इस कारण कहा जा सकता है कि इसकी नियुक्ति जनता की सरकार द्वारा की गई थी । हम आयोग के सदस्यों की सूची देख चुके हैं । यह सोचने की बात है कि इनमें से कितने जनता का प्रतिनिधित्व करते थे या कर सकते थे और कितने अंग्रेजी पक्षीय वर्ग-विशेष का । ऐसे भी कोई थे जो शिक्षार्थियों का प्रतिनिधित्व कर सकते थे या उनकी आवाज को सुन सकते थे ? यदि हम परीक्षा-परिणामों को देखें तो पता चलेगा कि अंग्रेजी काल के प्रारंभ से 1947 तक हाई स्कूल, इंटरमीडिएट और बी०ए० का परीक्षा-फल दस प्रतिशत से लेकर 60 या 65 प्रतिशत तक रहा है और पास होने वालों में भी अंग्रेजी में अंक कम आते हैं । फेल भी सबसे अधिक अंग्रेजी में ही होते हैं । और यदि आप फुरसत में नकलचियों की सेवा करना चाहें तो पात्रों की कमी नहीं रहेगी, क्योंकि अंग्रेजी पुण्यार्थियों की संख्या सबसे अधिक मिलेगी । थोक में सेवा कीजिए, पर एक ध्यान रखिए—कल क्या होगा ? अंग्रेजी की इस मधुर संपीड़ा से व्यथित वर्ग के आंसू पोंछने वाला तो कोई था ही नहीं । यह कहने वाला भी नहीं था कि इन्हें पी जाओ, कड़वा घूंट है, पर सेहत बन जाएगी । कड़वा घूंट तो हिंदी का था ।

यह माना कि शिक्षा की समस्याओं को शिक्षाशास्त्री ही समझते हैं । वे ही हल भी सुझा सकते हैं । शिक्षाशास्त्री ही विश्वविद्यालयों की समस्याओं को जानते हैं । सो तो ठीक है । पर प्रश्न है कि विश्वविद्यालय क्या है ? इसका उत्तर एक और प्रश्न पूछकर ढूंढें । जनता, समाज, देश, राष्ट्र—यह सब क्या है ? क्या जनता देश के वृद्धतम व्यक्ति से लेकर नवजात शिशु तक सीमित है ? जनता, देश, राष्ट्र समाज हमारे अतीत की अदृष्ट सीमा से लेकर भविष्य की अदृश्य सीमा तक विस्तृत हैं । जिस प्रकार समाज में प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों प्रकार के तत्त्व हैं उसी प्रकार शिक्षा और विश्वविद्यालय में भी दृष्ट और अदृष्ट दोनों प्रकार के तत्त्व होते हैं । कुलपति, डीन, प्रोफेसर, परिषद्, विभाग और अध्यक्ष तो दृष्ट तत्त्व थे—देखे भी गए, पर शिक्षार्थी, अभिभावक—ये सब तो अदृष्ट हो गए । इनको जो आयोग नहीं देखेगा वह अधूरा रहेगा । शिक्षा-माध्यम के संदर्भ में यह बात सही दीखती है । मकाले ने भी एक ही वर्ग को देखा था । जनसाधारण उसने देखा ही नहीं था । आयोग ने भी ऐसा ही किया ।

हां, एक बात आयोग के पक्ष में कही जा सकती है : पिछड़ा और अशिक्षित वर्ग तो अपनी कठिनाइयां भी किसी के सामने नहीं रख सकता । शिक्षित वर्ग ही उनकी कठिनाइयों को देख सकता है, समझ सकता है तथा उनको अभिव्यक्ति करके उनका हल सुझा सकता है । ऐसी आशा आयोग से थी और आयोग ने ऐसा किया भी ।

आयोग ने अपनी प्रश्नावली जिन शिक्षाशास्त्रियों को भेजी उनकी संख्या कितनी थी यह तो नहीं कहा जा सकता पर उत्तर 275 से मिले । माध्यम संबंधी प्रश्न था सं० 8 और उसके

अंतर्गत प्रश्न 6 और 9 थे । प्रश्न 6 इस प्रकार था :

> यदि आप भारत के सारे विश्वविद्यालयों के लिए एक शिक्षा-माध्यम के पक्ष में हैं तो कौन-सी भाषा की सिफारिश करेंगे ?

इस प्रश्न के तीन उत्तर हो सकते थे :

i. केंद्रीय भाषा अर्थात् हिंदी/हिंदुस्तानी
ii. क्षेत्रीय भाषाएं, किसी भी क्षेत्र की अपनी भाषा
iii. अंग्रेजी स्थाई रूप से या नियत समय के लिए

क्योंकि प्रश्न 6 के उत्तर में अंग्रेजी की संभावना थी, इसीलिए प्रश्न 9 स्पष्टीकरण के लिए पूछा गया । वह इस प्रकार था :

> आपके विचारानुसार भारत के विश्वविद्यालयों में अंग्रेजी का क्या स्थान होना चाहिए ?

i. निकटतम भविष्य में ?
ii. अंततोगत्वा अर्थात् चिरभविष्य में ?
iii. शिक्षा-विषय के रूप में ?
iv. शिक्षा-माध्यम के रूप में ?

सभी 9 प्रश्नों के जो उत्तर मिले उनका विवेचन करते समय प्रारंभ में ही आयोग ने लिखा है कि किसी और प्रश्न पर शिक्षाविद् मंडल में इतना विवाद और परस्पर विरोध नहीं हुआ जितना शिक्षा-माध्यम के विषय पर हुआ । इस विवाद के अतिरिक्त सारा प्रश्न भावनाओं में इतना उलझा हुआ है कि इस पर शांत और तटस्थ रूप में विचार करना कठिन है ।

देखें यह विवाद भावनाग्रस्त था या केवल स्वाभाविक था जैसा कि किसी भी स्वतंत्र वातावरण में होना ही चाहिए । परेशानी होती है तो केवल निष्कर्ष निकालने की और खुले प्रस्ताव करने की । सीधी बात कहने की हिम्मत न हो तो साधारण विचार-विनिमय भी भावनाग्रस्त लगेगा ।

जैसा कि ऊपर सुझाया गया है प्रश्न सं० 6 के उत्तर तीन ही आए । ये थे : क्षेत्रीय भाषाएं, हिंदी/हिंदुस्तानी, और अंग्रेजी । 121 व्यक्तियों ने हिंदी के पक्ष में अपना मत दिया, 87 ने क्षेत्रीय भाषाओं के पक्ष में और 80 ने अंग्रेजी के पक्ष में । जिन 80 व्यक्तियों ने अंग्रेजी के पक्ष में अपना मत दिया उनमें केवल आठ-दस ऐसे थे जो केवल अंग्रेजी के ही पक्ष में थे । शेष सब या तो ऐसे थे जो हिंदी या क्षेत्रीय भाषा पर सहमति न होने की हालत में अंग्रेजी के पक्षधर थे, या ऐसे थे जो चाहते थे कि कुछ समय तक अंग्रेजी चलती रहे और उस दौरान में भारतीय भाषा अथवा भाषाओं का विकास कर लिया जाए और फिर हिंदी अथवा क्षेत्रीय भाषाओं को शिक्षा-माध्यम के रूप में अपना लिया जाए । यह विवेचन इस ओर स्पष्ट संकेत करता है कि वास्तव में बहुत थोड़े लोग ऐसे थे जो एकमात्र अंग्रेजी के पक्ष में थे । यह बात इससे भी साफ हो जाती है कि प्रश्न 9 (iv) के संदर्भ में भी केवल 8 या 10 व्यक्तियों ने अंग्रेजी शिक्षा-माध्यम की सिफारिश की

थी जिसका अर्थ यह है कि शेष तो केंद्रीय भाषा (हिंदी/हिंदुस्तानी) अथवा क्षेत्रीय भाषाओं के पक्ष में थे ।

इस विवेचन का यह अर्थ भी लिया जा सकता है कि माना अंग्रेजी के पक्ष में थोड़े ही व्यक्ति थे, फिर भी वे निश्चयपूर्वक किसी भारतीय भाषा के पक्ष में सुझाव तो नहीं दे पाए थे । न सही । किंतु हम यह कहते हैं कि उनके कहने का स्पष्ट अर्थ यह था कि अंग्रेजी को शिक्षा-माध्यम के स्थान से हटाओ । यदि यह निर्णय ले लिया जाए कि अंग्रेजी तो शिक्षा-माध्यम रहेगी नहीं तो हम एक निश्चित दिशा में सोच पाएंगे । फिर हम क्षेत्रीय भाषाओं को अपनाएं चाहे केंद्रीय भाषा को । एक अंग्रेजी दीवार गिरने के बाद मिलकर बैठेंगे तो एक भाषा भी हमारी और सारी भाषाएं भी हमारी । जिन व्यक्तियों ने संधिकाल में अंग्रेजी का प्रस्ताव किया उन्होंने भी संधिकाल की चर्चा करते हुए कहा कि यह समय एक वर्ष से लेकर 25 वर्ष तक हो सकता है । हिंदी के लिए सापेक्ष या निरपेक्ष सिफारिशों को देखा जाए तो हिंदी के पक्ष में लगभग 190 व्यक्ति हो जाएंगे । फिर भी आयोग को सारी बातें विवादास्पद और भावनाग्रस्त ही लगीं । यदि आप भावनात्मक शैली को भी ढूंढ़ें तो दस से अधिक की भाषा में नहीं मिलेगी । वास्तव में सुझाव तो ऐसे भी आए कि उनकी कल्पना साधारण अंग्रेजीदां के लिए आज भी कठिन है । उदाहरण के लिए श्री प्रद्युम्न चंद्र जोशी ने अलाहाबाद में हुए अंग्रेजी प्राध्यापक सम्मेलन का हवाला देकर लिखा था : "अलाहाबाद में हुए अंग्रेजी प्राध्यापक सम्मेलन ने इस प्रस्ताव की संपुष्टि की कि भारत के विश्वविद्यालयों में शिक्षा-माध्यम भारतीय क्षेत्रीय भाषाएं होनी चाहिए । यदि हम अंग्रेजी साहित्य को भी भारतीय भाषाओं के माध्यम से पढ़ाएं तो कोई अटपटी बात नहीं है । ऐसा करने से न केवल हमारी अपनी भाषाओं के विकास में सहायता मिलेगी अपितु साहित्य समझने और समालोचना करने का स्तर भी ऊंचा होगा" (रिपोर्ट, I, भाग 2, पृ० 719-20) । जब अंग्रेजी के प्राध्यापक ही ऐसा कह गए तो परेशानी क्या रही ?

संस्कृत को शिक्षा-माध्यम बनने के संबंध में आयोग ने जो टिप्पणी की वह भी अंग्रेजी के पक्ष में एक आश्चर्यजनक बात है । रिपोर्ट, खंड I के पृष्ठ संख्या 318 पर आयोग ने लिखा है कि यदि संस्कृत उच्चशिक्षा का माध्यम हो तो विद्यार्थी के समय का अधिकतर भाग तो भाषा के लिखने और बोलने की क्षमता प्राप्त करने में ही व्यय हो जाएगा । परिणामस्वरूप स्कूल और कालेज में शिक्षा का समय (अवधि) बढ़ाना पड़ेगा । और विद्यार्थियों को संस्कृत प्रयोग करना सिखाने में हम सफल हो भी गए, यद्यपि संस्कृत अंग्रेजी से कहीं अधिक कठिन भाषा है, तो भी अंग्रेजी के सदृश संस्कृत भाषा भी शिक्षित और विश्वविद्यालय में न जा सकने वाले विशाल जनसमूह के बीच एक बहुत बड़ी खाई बनकर खड़ी हो जाएगी । संस्कृत नहीं जानने वाले लोकतंत्र में भाग लेने से वंचित रह जाएंगे और इस प्रकार जनसाधारण के भागीदार हुए बिना कोई लोकतंत्र प्रणाली सफल नहीं हो सकती ।

संस्कृत बड़ी कठिन भाषा है
इसे सीखने में बहुत समय लगेगा
सब इसे सीख नहीं पाएंगे
न सब विश्वविद्यालय जा पाएंगे
तो संस्कृत भाषा शिक्षित और अशिक्षितों के बीच खाई बनकर खड़ी हो जाएगी
सभी लोकतंत्र में भाग नहीं ले पाएंगे
यह लोकतंत्र की अवहेलना होगी ।

—ये सब आपत्तियां अंग्रेजों पर भी तो लागू होती हैं । आयोग तो स्वयं कह चुका था कि अंग्रेजी भाषा जनता को शासक और शासित दो वर्गों में विभाजित करती है और साथ में व्यक्तिगत मानसिक विभाजन भी करती है । फिर जनता पूछ सकती है कि संस्कृत मानसिक विभाजन तो पैदा नहीं करती क्योंकि संस्कृत और लोकभाषा की परंपरा तो एक है, तो फिर यदि संस्कृत नहीं तो अंग्रेजी क्यों ? उत्तर स्पष्ट है : आयोग के सदस्य और अंग्रेजी शिक्षित एक ही वर्ग के सदस्य थे । क्या हम यह समझें कि अंग्रेजी वर्ग तो लोकतंत्र में भागीदार था ही और है भी । फिर अंग्रेजीविद् और निरंग्रेजी वर्ग के बीच का विभाजन कौन देखे और वे स्वयं देखें क्यों ? यदि नजर ही अंग्रेजी है तो नजर के अनुसार ही तो दीखेगा ।

कभी-कभी गांधी जी को याद करना मानो हमारे दृष्टिकोण को ठीक कर देता है । गांधी जी ने कहा था : यदि शिक्षा-माध्यम बदल दिया जाए, आहिस्ता-आहिस्ता नहीं, एकदम, और यदि हम दृढ़ निश्चयपूर्वक काम करें तो एक वर्ष के अंदर ही अध्यापक और पुस्तकें तैयार हो जाएंगी । शर्त एक है कि सरकारी दफ्तरों और अदालतों में क्षेत्रीय भाषाओं का प्रयोग लागू कर दिया जाए ('हरिजन', 30.7.1938) । गांधी जी कहते थे कि हमने सभ्यता और संस्कृति के आधारभूत तथ्यों को समझने के लिए एक विदेशी भाषा को अपना कर समय और शक्ति को व्यर्थ में नष्ट किया है । गांधी जी कहा करते थे कि शिक्षा-माध्यम और पुस्तकें भारतीय होंगे तो नया शिक्षित वर्ग भारत और उसकी आवश्यकताओं के अनुरूप होगा । यदि (अंग्रेजी) शिक्षित वर्ग भाषा और माध्यम के प्रश्न के साथ खिलवाड़ करता रहा तो हमारे सपनों का भारत नहीं बनेगा । ('हरिजन', 9.7.1938) । गांधी जी की नजर मेजबान की थी, मेहमान की नहीं ।

28

मेरी मजबूरियां तो देख

स्वतंत्रता का वरदान है स्वाधीनता और सर्वार्थ । इसका अभिशाप है पराधीनता और स्वार्थ, ऐसी पराधीनता जिसे हम स्वार्थवश, अपने आप से मजबूर होकर, स्वतंत्रतापूर्वक स्वीकार करते हैं । सर्वार्थ हमारी स्वतंत्रता की महत्त्वाकांक्षा है, स्वार्थ उसकी सीमा । यदि चाहें तो यह भी कह सकते हैं कि स्वतंत्रता का उपनाम स्वाधीनता के साथ-साथ मजबूरी भी है ।

उदाहरणार्थ : जब भारत स्वतंत्र हुआ तो थोड़े दिन बाद ही हमने यह महसूस किया कि मानव मात्र की समता और समानता हमारे लोकतंत्र की आत्मा है और उसके अनुसार पुरुष और स्त्री को समान न्याय मिलना चाहिए । स्वतंत्रतापूर्वक हमने अपने कानून में उचित संशोधन कर लिया । स्वतंत्रता समय की मांग के अनुसार व्यक्ति के अधिकारों और कर्तव्यों को देखते हुए व्यक्ति और समष्टि के बीच की संतुलन-रेखा को आगे-पीछे करती रहती है । अब जैसे ही हमने पुरुष और स्त्री मात्र की समानता को अपना लोकतांत्रिक मंतव्य बनाया प्रत्येक को यह अधिकार मिल गया कि वह अपनी पीड़ा न्यायपालिका के सामने पेश करे । परिणामतः एक देवी शाहबानो नाम की सामने आई और उसने न्याय की मांग की कि मेरे पति से मुझे निर्वाह भत्ता दिलवाया जाए । विधि और विधान (कानून) हमारा लोकधर्म है । उसी लोकधर्म के अनुसार उसकी फरियाद सुन ली गई और उसे निर्वाह भत्ता मिले यह आदेश दे दिया गया । समता, समानता और समान न्याय का सिद्धांत अटल रहा । अब एक वर्ग को यह लगा कि उनके सांप्रदायिक मत और लोकमंतव्य अर्थात् लोकधर्म में विरोध हो गया । उसने इस लोकमंतव्य के विरुद्ध आवाज उठाई और कहा कि एक वर्ग-विशेष की महिलाओं को वह समानता नहीं दी जा सकती जो लोकतंत्र ने स्वीकार कर ली है अतः लोक-सिद्धांत को बदला जाए । सवाल संसद में रखा गया और एक वर्ग-विशेष को मतपसंद अथवा मनपसंद स्वतंत्रता देने के लिए समान न्याय के मंतव्य को बदल दिया गया । यह न्याय-परिवर्तन लोकतांत्रिक स्वतंत्रता और स्वाधीनता की एक मजबूरी थी ।

अंततोगत्वा स्वतंत्रता और परतंत्रता में अंतर ही क्या है ? परतंत्रता की मजबूरियां किसी दूसरे की दी हुई हैं, स्वतंत्रता की मजबूरियां हमने स्वयं स्वीकार की होती हैं । हमारी मजबूरियां हमारी स्वतंत्रता का अंग हैं और यही उसकी सीमा हैं । स्वतंत्रता स्वच्छंदता कभी नहीं होती । हमारी मजबूरियां कभी परिस्थितियों की देन होती हैं और कभी हमारी स्वयं-साध्य सीमाओं का प्रतीक । इन्हीं मजबूरियों पर विजय पाते रहना स्वाधीनता, स्वतंत्रता और लोकतंत्र के सामंजस्य और प्रगति का मानक है । 1947 के बाद के भारत में जब हम शिक्षा और भाषा का पर्यावलोकन करते

हैं तो महत्त्वाकांक्षा और सीमाओं का द्वंद्व दिखाई पड़ता है । महत्त्वाकांक्षा दिशा-निदेश करती है, मजबूरियां आदर्श और वास्तविकता का संतुलन करके उसे सीमाबद्ध कर देती हैं ।

परतंत्र और स्वतंत्र भारत की दिशा-पद्धतियों में अंतर होना तो आवश्यक था । परतंत्र भारत की शिक्षा पद्धति का मूल्यांकन वाइसराय लार्ड वैवल ने जार्ज षष्ठम को लिखे अपने पत्र में किया था जिसमें उन्होंने लिखा था कि औपनिवेशिक शिक्षा पद्धति के फलस्वरूप भारत के नौजवान चरित्र और अनुशासन दोनों से ही वंचित रह गए हैं । उन्होंने यह भी कहा कि यदि भारत को राष्ट्र बनना है तो चरित्र और अनुशासन दोनों की उपलब्धि करनी होगी । भारत के स्वतंत्र होते ही सरकार ने 1948 में विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग की नियुक्ति की जिसने 1949 में अपनी रिपोर्ट दे दी । 1948 में ही केंद्रीय शिक्षा बोर्ड ने भारत सरकार को सुझाव दिया था कि एक आयोग की नियुक्ति की जाए जो सेकंडरी शिक्षा का पुनरवलोकन करे तथा उसमें स्वतंत्र भारत की आवश्यकताओं के अनुसार सुधार की सिफारिश करे । यही सुझाव बोर्ड की जनवरी 1951 की बैठक में दोहराया गया और सितंबर 1952 में सेकंडरी एज्यूकेशन आयोग का गठन कर दिया गया । आयोग ने 1953 में अपनी रिपोर्ट दे दी । आयोग के सदस्य थे :

1. डॉ० ए० लक्ष्मण स्वामी मुदालियार, कुलपति, मद्रास विश्वविद्यालय, अध्यक्ष
2. प्रिंसिपल जौन क्रिस्टी, जीसस कालेज, आक्सफोर्ड
3. डॉ० केनेथ रास्ट विलियम्ज़, सहनिदेशक, दक्षिण क्षेत्रीय शिक्षा बोर्ड, अटलांटा (यू०एस०ए०)
4. श्रीमती हंसा मेहता, कुलपति, बड़ौदा विश्वविद्यालय
5. श्री जे०ए० तारापुरवाला, निदेशक टेक्निकल शिक्षा, मुंबई
6. डॉ० के०एल० श्रीमाली, प्रिंसिपल, विद्या भवन, उदयपुर
7. श्री एम०टी० व्यास, प्रिंसिपल, न्यू ऐरा स्कूल, मुंबई
8. श्री के०जी० सय्यदीन, सह-सचिव शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार
9. प्रिंसिपल एम०एन० वसु, प्रिंसिपल, शिक्षा संस्थान, दिल्ली

आयोग का काम विशेषतः यह था कि भारत में प्रचलित सेकंडरी शिक्षा का पर्यावलोकन करे और नए भारत की आवश्यकता और क्षमता के अनुसार शिक्षा के सुधार और पुनर्गठन की सिफारिश करे ।

जैसे ही आयोग ने स्वतंत्र भारत के संदर्भ में प्रचलित शिक्षा के संबंध में सोचना प्रारंभ किया उन्हें ऐसा लगा कि हमारी शिक्षा तो मूल रूप से ही गलत हो गई थी । यह शिक्षा विद्यार्थियों को केवल किताबों का कीड़ा बना देती थी और पुस्तकों और परीक्षा के बोझ से लाद देती थी । एक बहुत बड़ी कमजोरी इस पद्धति की यह थी कि इसका शिक्षा-माध्यम अंग्रेजी था जो विदेशी भाषा होने के कारण विद्यार्थियों के रास्ते का पत्थर बन गया था । यदि कोई बच्चा अंग्रेजी में कमजोर होता तो वह न तो स्कूल परीक्षा पास कर पाता था और न कोई सरकारी नौकरी पा सकता था (रिपोर्ट, पृ० 20-21) । वास्तव में यह शिक्षा केवल परतंत्र भारत की आवश्यकताओं

के अनुरूप थी, इसमें चरित्र-निर्माण, अनुशासन, नागरिकता सहयोग, नेतृत्व इत्यादि वैयक्तिक और सामाजिक गुणों का समावेश था ही नहीं । वास्तव में इस शिक्षा का जीवन से कोई संबंध ही नहीं था ।

अंग्रेजी शिक्षा पद्धति की कमियों को देखने के पश्चात् आयोग ने एक मूल प्रश्न नई शिक्षा के संबंध में उठाया कि नए भारत में शिक्षा का उद्देश्य क्या है ? आयोग ने इस प्रश्न पर दोहरे दृष्टिकोण से विचार किया : आज की शिक्षा किसके लिए और किस संदर्भ में ? उत्तर स्पष्ट है :

शिक्षा व्यक्ति के लिए,
समाज के संदर्भ में ।

आयोग ने शिक्षा के उद्देश्य के संबंध में कहा कि शिक्षा का चरम उद्देश्य है व्यक्ति का चरित्र-निर्माण और उसके व्यक्तित्व का विकास (रिपोर्ट, पृ० 117) । और स्पष्ट शब्दों में कहा जा सकता है कि चरित्र-निर्माण और व्यक्तित्व का विकास समाज के परिप्रेक्ष्य में ही होता है क्योंकि समाज के अंदर ही उसके चरित्र और व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति और परीक्षा होती है । व्यक्ति की स्वतंत्रता की अभिव्यक्ति भी समाज के अंदर ही होती है । यदि किसी ऐसी दुनिया की कल्पना करें जहां सब कुछ उपलब्ध हो पर व्यक्ति केवल एक हो तो वह व्यक्ति पूर्णतया स्वतंत्र तो होगा, क्योंकि उसकी स्वतंत्रता को चुनौती देने वाला कोई भी नहीं होगा, किंतु वह स्वतंत्रता किस काम की ? स्वतंत्र समाज-सापेक्ष है । समाज के बिना व्यक्ति की स्वतंत्रता का कोई महत्त्व नहीं और व्यक्ति की स्वतंत्रता के बिना समाज की स्वतंत्रता का कोई अर्थ नहीं । किसी भी समाज में शिक्षा का संबंध व्यक्ति और समष्टि (समाज) दोनों से होता है । शिक्षा एक ऐसी प्रक्रिया है जिससे व्यक्ति का विकास और समाज की उन्नति इन दोनों की सिद्धि होती है । अतः शिक्षा का उद्देश्य हुआ :

1. मनुष्य का चरित्र-निर्माण
2. समाज के प्रति अनुशासन की भावना
3. समाज के प्रति उसका योगदान ।

स्वतंत्र भारत के लोकतांत्रिक समाज को देखते हुए शिक्षा का उद्देश्य है नागरिकता (रिपोर्ट, पृ० 23-24) । हमारे नए समाज के व्यक्ति स्वतंत्र है, समाज भी स्वतंत्र है । स्वतंत्र समाज जब स्वतंत्र नागरिक से अनुशासन और सकारात्मक योगदान की मांग करता है तो देखना यह है कि वह अनुशासन और योगदान कैसा होगा ?

आइए, इस अपेक्षित अनुशासन और योगदान की तुलना ब्रिटिशकालीन अपेक्षाओं से करते हैं । चरित्र-निर्माण और व्यक्तित्व विकास तथा अनुशासन और सामाजिक योगदान की अपेक्षा तो शिक्षित वर्ग से ब्रिटिश सरकार ने भी की थी । इन्हीं गुणों की अपेक्षा करके किंतु इन्हें भारत के नौजवानों में न पाकर लार्ड कर्ज़न उदास हो गए थे । कारण यह था कि विदेशी सरकार ने तो अनुशासन और सामाजिक योगदान की आशा सरकारी हित में ब्रिटिश दिशा में की थी, किंतु भारतीय नौजवान स्वतंत्रता भारतीय दिशा में सोचने लगे थे और इसी कारण वे ब्रिटिश

सरकार को चुनौती देने लगे थे । ब्रिटिश दृष्टिकोण से सोचते हुए कर्ज़न और अन्य शासकों ने कहा था कि भारतीय युवक भटक गया है, वह अनुशासनहीन और दिशाविहीन है । स्वतंत्र समाज में स्वतंत्र व्यक्ति का संबंध, जैसे कि हम पहले कह चुके हैं, सुर और संगीत वाला है । प्रत्येक सुर का अपना महत्त्व है किंतु राग के बिना उसका अकेले का कोई महत्त्व नहीं है । इसी प्रकार राग या संगीत का महत्त्व तो है किंतु वह है तो सुरों की ही अनुशासनबद्ध समष्टि । यदि एक सुर भी बिगड़ा होगा या अपने स्थान पर नहीं होगा तो राग बिगड़ जाएगा । इसी प्रकार स्वतंत्र समाज में अनुशासन व्यक्ति की स्वयं की स्वतंत्रता-सिद्धि के लिए होता है और अनुशासनबद्ध योगदान स्वतंत्रतापूर्वक दिया जाता है । व्यक्ति और सामज, स्वतंत्रता और अनुशासन, इन सबका तालमेल शिक्षा और नागरिकता की भावना से बनता है । जितना स्वस्थ व्यक्ति होगा, जितना दृढ़ उसका चरित्र होगा, जितना संपूर्ण उसका अनुशासन होगा, उतना ही स्वस्थ और समुन्नत समाज होगा । समाज और व्यक्ति के इस संतुलित विकास का साधन और प्रक्रिया है शिक्षा—विशेषकर प्रारंभिक और माध्यमिक शिक्षा । स्वतंत्र समाज के तीन आधार-स्तंभ हैं : संगठन, संवाद और सहयोग । समान विचार, समान भाषा, समान लक्ष्य—ये सब बड़े आवश्यक हैं ।

लोकतंत्र और नागरिकता के साथ एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात जुड़ी है : स्वतंत्र विचार, स्वतंत्र इच्छा, स्वतंत्र निर्णय और स्वतंत्र कार्य और विचार, इच्छा तथा निर्णय के साथ-साथ पूरी जिम्मेदारी मानना । यह सारा कुछ करने के लिए स्वच्छ विचार, साफ और असंदिग्ध भाषा, बोलने और लिखने की शक्ति आवश्यक है । इसलिए शिक्षा का एक आवश्यक लक्ष्य यह भी है कि व्यक्ति को सही सोचने, बोलने और लिखने की क्षमता प्रदान करना (रिपोर्ट, पृ० 23-4) । यदि व्यक्ति की विचार शक्ति और वक्तृता को सक्षम बनाना है तो अपनी भाषा की आवश्यकता है । दूसरी अर्थात् विदेशी भाषा के माध्यम से व्यक्ति का विकास अधूरा रह जाएगा । वास्तव में आज के भारत में परंपरा का अंधानुकरण भी देशभक्ति नहीं होगा । परंपरा को भी समझना और उसका मूल्यांकन करना आवश्यक है । वह भी केवल अपनी भाषा के माध्यम से ही हो सकता है (रिपोर्ट, पृ० 26) अतः आयोग की सैद्धांतिक दृष्टि में अपनी भाषा शिक्षा-माध्यम के रूप में प्रयोग करना आवश्यक है (रिपोर्ट, पृ० 90) ।

आयोग के मतानुसार विदेशी शिक्षा प्रणाली की सबसे बड़ी त्रुटि यह थी कि उसमें अंग्रेजी को शिक्षा-माध्यम बनाया गया था और विद्यार्थी की मातृभाषा की अवहेलना की गई थी (रिपोर्ट, पृ० 10) । परिणाम यह हुआ कि बच्चे न तो सोच पाते थे और न ही बोल सकते थे । वे उस कुचक्र में पड़ गए जिसकी चर्चा रवीन्द्र ठाकुर ने 'शिक्षा के हेरफेर' नाम से की है, अर्थात् विदेशी माध्यम से शिक्षित युवक के पास विचार हैं तो भाषा नहीं है और भाषा है तो विचार नहीं हैं । ब्रिटिश काल में शिक्षा के साथ यही खिलवाड़ तो की गई थी । इसे ठीक करना स्वतंत्र भारत का काम था और भारत की ओर से सेकंडरी शिक्षा आयोग यही काम कर रहा था ।

आयोग ने ठीक ही कहा था कि शिक्षा की प्रक्रिया में सब से अधिक महत्त्व मातृभाषा को दिया जाना चाहिए । मातृभाषा के अध्ययन का यह अर्थ भी नहीं कि भाषा को जैसे चाहा बोल

दिया, जैसे चाहा लिख दिया अथवा केवल शब्दावली में वृद्धि करते चले गए । मातृभाषा तो विद्यार्थी के संपूर्ण व्यक्तित्व के विकास का सबसे सशक्त और संपन्न साधन है । इसके माध्यम से ही साहित्य का अध्ययन संभव है और इसी के माध्यम से ऊंची से ऊंची विचार एवं कल्पना-वृत्तियों से हार्दिक संबंध हो सकता है । इसी के माध्यम से हृदय और आत्मा की अभिव्यक्ति हो सकती है । विदेशी भाषा के माध्यम से बच्चे केवल शब्दों की रटंत में लगे रहते हैं और विचारों और भावनाओं से वंचित रह जाते हैं । केवल शब्द मात्र शिक्षा नहीं हैं । शब्दों के माध्यम से जीवन-तत्त्वों की प्राप्ति वास्तविक शिक्षा है जो अपनी भाषा के द्वारा ही संभव है । विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग की तरह सेकंडरी शिक्षा आयोग का भी सिद्धांत पक्ष दृढ़ था । उन्होंने 1882 के हंटर आयोग से लेकर 1948 के विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग तक की सारी रिपोर्ट पढ़ी और यह आशा व्यक्त की कि नए भारत में लोकतांत्रिक सरकार और प्रबुद्ध जनता के संदर्भ में शिक्षा एक महत्त्वपूर्ण मोड़ लेगी और अवश्य लेगी । अंग्रेजी माध्यम की आलोचना तो आयोग कर ही चुका था और सिद्धांत रूप में मातृभाषा के शिक्षा-माध्यम होने का समर्थन भी कर चुका था । इस कारण यह आशा की जा सकती थी कि आयोग किसी न किसी भारतीय भाषा, एक (हिंदी) या अनेक (क्षेत्रीय) भाषाओं की सिफारिश करेगा । क्या ऐसा हुआ ? और यदि ऐसा हुआ तो कहीं उसे नकारा तो नहीं गया ?

आयोग ने जो प्रश्नावली तैयार की उसमें भाषा-अध्ययन और शिक्षा-माध्यम के संबंध में तीन प्रश्न थे, प्रश्न सं० 2, 3 और 4 । ये इस प्रकार हैं :

2. विभिन्न प्रकार के प्रारंभिक और सेकंडरी स्कूलों में शिक्षा-माध्यम क्या है ?
3. (क) आपके मतानुसार विभिन्न प्रकार के सेकंडरी स्कूलों में शिक्षा-माध्यम क्या होना चाहिए ?
   (ख) इस पद्धति (स्कीम) में अल्पसंख्यकों की क्या स्थिति होगी ?
4. (क) ऐच्छिक अथवा अनिवार्य रूप में कितनी भाषाएं पढ़ाई जाएं ?
   (i) जूनियर हाई स्कूल में ?
   (ii) सीनियर हाई स्कूल में ?
   (ख) इस पद्धति में मातृभाषा, केंद्रीय भाषा, अंग्रेजी और प्राचीन (क्लासिकल) भाषा का क्या स्थान होगा ?
   (ग) (i) किस स्तर पर केंद्रीय भाषा का अध्ययन प्रारंभ हो और कितने समय तक ?
   (ii) किस स्तर पर अंग्रेजी भाषा का अध्ययन आरंभ हो और कितने समय तक ?
   (iii) इस पद्धति में क्षेत्रीय (प्रादेशिक) भाषा की क्या स्थिति रहेगी, यदि वह बच्चे की मातृभाषा से भिन्न हो तो ?

यदि सिद्धांत पक्ष को देखा जाए और प्रश्नों का उत्तर ढूंढ़ा जाए तो मातृभाषा, क्षेत्रीय भाषा

अथवा हिंदी के अतिरिक्त और कोई भाषा शिक्षा का माध्यम हो ही नहीं सकती, अंग्रेजी तो क़भी भी नहीं । किंतु यह उत्तर आयोग को बना-बनाया मिल गया । उन्होंने यह नोट किया कि 1937 से पहले तो शिक्षा-माध्यम था अंग्रेजी किंतु 1937 के पश्चात् मातृभाषा क्षेत्रीय भाषा माध्यम बन गया है । अंग्रेजी मात्र अनिवार्य विषय है । हां, जहां अंग्रेजी मातृभाषा है या अल्पसंख्यकों की भाषा है वहां अंग्रेजी माध्यम अवश्य है । इसके अतिरिक्त अखिल भारतीय स्तर पर काम करने वाले अफसरों के बच्चों को भी अंग्रेजी-माध्यम से पढ़ने की सुविधा उपलब्ध है क्योंकि स्थानांतरण होने पर उनके बच्चे नई क्षेत्रीय भाषा के माध्यम से नहीं पढ़ सकते । हिंदी की स्थिति के संबंध में आयोग ने यह पाया कि :

1. कुछ प्रदेशों में हिंदी शिक्षा-माध्यम एवं अनिवार्य शिक्षा-विषय है ।
2. कुछ प्रदेशों में हिंदी अनिवार्य विषय तो है पर शिक्षा-माध्यम क्षेत्रीय भाषा है ।
3. हिंदी एक विकल्प भाषा और परीक्षा-विषय भी है, किंतु परिणाम का प्रभाव परीक्षा-परिणाम पर कोई नहीं है ।
4. हिंदी का अध्यापन तो अनिवार्य है पर इसका अध्ययन ऐच्छिक । (रिपोर्ट, पृ० 60)

इन तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि हिंदी एवं दूसरी भारतीय भाषाएं शिक्षा-माध्यम के रूप में अपनाई जा चुकी थीं और अंग्रेजी का बोलबाला नहीं था । यदि आयोग की सिफारिश को भी देखें तो भी ऐसा ही दीखता है । सिफारिशें संक्षेप में यह हैं :

1. सेकंडरी स्कूल में शिक्षा-माध्यम केवल मातृभाषा या क्षेत्रीय भाषा होना चाहिए । जहां भाषायी अल्पसंख्यकों का प्रश्न हो वहां उनको अपनी भाषा शिक्षा-माध्यम के रूप में उपलब्ध हो ।
2. मिडिल स्कूल स्तर पर प्रत्येक विद्यार्थी कम से कम दो भाषाएं पढ़े । जूनियर बेसिक स्तर पर अंग्रेजी और हिंदी प्रारंभ की जाएं किंतु एक ही वर्ष में नहीं ।
3. हाई और हायर सेकंडरी स्तर पर दो भाषाएं पढ़ाई जाएं जिनमें एक मातृभाषा या क्षेत्रीय भाषा हो । (रिपोर्ट, पृ० 72)

मनोविज्ञान के आधार पर विदेशी भाषा को माध्यम रूप में अस्वीकार्य कह चुकने के बाद अंग्रेजी के विषय में कोई बात न कहना और यह मान लेना कि माध्यम का प्रश्न हल हो चुका है क्योंकि मातृभाषा, क्षेत्रीय भाषा या हिंदी पहले ही माध्यम बन चुकी है, ऐसा लगता है कि वास्तविक समस्या से मुंह मोड़ लेना है । भारतीय भाषाएं माध्यम रूप में स्वीकार हो चुकी हैं यह कह देना भी ठीक नहीं है, क्योंकि यह साधारण तौर पर जानी-पहचानी बात है कि सामाजिक विज्ञान या इतिहास आदि विषयों को छोड़कर साइंस और गणित इत्यादि विषयों का माध्यम तो अभी भी अंग्रेजी है । इसके अतिरिक्त विशेष देखना यह है कि आयोग ने कुछ ऐसी परिस्थितियों की ओर संकेत किया है जो अंग्रेजी अनिवार्य बने रहने का निर्देश करती हैं और दूसरी ओर ऐसे तथ्यों और वांछनाओं की चर्चा की है जिनके कारण अंग्रेजी माध्यम रहना ही नहीं चाहिए । इससे

आयोग की अपनी मान्यताओं में ही विरोध आ जाता है । एक तरफ कहते हैं कि हमारे विद्यार्थी अधिकतर हायर सेकंडरी स्तर तक ही जाते हैं आगे नहीं (रिपोर्ट, पृ० 102) और साथ में यह भी कि नौजवान के रास्ते में कोई ऐसा रोड़ा केवल भाषा के न जानने के कारण नहीं होना चाहिए जो उसे अपने वांछित लक्ष्य से वंचित कर दे । इसका अर्थ यह हुआ कि अंग्रेजी को किसी के रास्ते का पथर नहीं बनने दिया जाए (रिपोर्ट, पृ० 70) । इसके बाद कहते हैं कि अंग्रेजी का ज्ञान अत्यंत लाभप्रद है और यदि कुछ विद्यार्थी ऐसे हैं जो अंग्रेजी में पिछड़े हुए हैं तो उनकी विशेष सहायता का प्रबंध होना चाहिए (रिपोर्ट, पृ० 70) । साथ-साथ यह भी कह दिया गया कि अंग्रेजी विश्वविद्यालय स्तर पर शिक्षा-माध्यम है और केंद्रीय और प्रादेशिक सरकारों का प्रशासन-माध्यम भी है और कुछ वर्षों तक रहेगा (रिपोर्ट, पृ० 71) । हिंदी तथा दूसरी भारतीय भाषाओं में पाठ्य-पुस्तकें नहीं मिलतीं, अतः अंग्रेजी पुस्तकें पढ़ानी ही पड़ेंगी (रिपोर्ट, पृ० 71) । इन सब बातों का निष्कर्ष यही निकलता है कि अंग्रेजी चल तो रही है, चलने ही दो । नाम को हिंदी माध्यम आ ही गया है, अंग्रेजी जहां है वहां बनी रहे, अच्छा है ।

सिद्धांत पक्ष के दृढ़ होने पर भी समस्या का सही उत्तर क्यों नहीं मिलता ? इसलिए कि सोचते हैं बुद्धि से, पर करते हैं मजबूरी से । और ऐसा केवल व्यक्ति या एक आयोग या एक वर्ग नहीं करता, अधिकतर सभी व्यक्ति, सभी संस्थाएं और सभी वर्ग ऐसा करते हैं—केवल सिरफिरों और क्रांतिकारियों को छोड़कर । अतएव जब किसी ने सिद्धांत पक्ष का विचार किया तो कहा कि अंग्रेजी तो जानी चाहिए, और भारतीय भाषा या भाषाएं आनी चाहिए । यदि एक भाषा सारे भारत में संपर्क-भाषा के रूप में हो तो कैसा ? बहुत अच्छा । कौन-सी ? हिंदी, और कौन-सी ? जैसे ही यह कहा अंदर से आवाज आई—हैं ? यह क्या ? अंग्रेजी वाले तो मिट जाएंगे । और इसी के साथ लोकवाणी की जगह वर्गवाणी आ गई और वर्गवाणी लोकवाणी बन गई । वर्ग सीमा से बाहर तो मूक समुदाय पथराई आंखों से केवल ताकता रहता है या वर्ग सभ्यता को किसी भी माध्यम से अपनाने की आकांक्षा में अपने को स्वाहा कर देता है । ऐसा विशेषकर उस समय होता है जब हमारी इच्छा शक्ति परिस्थितियों की जकड़न में पकड़ी होती है और हम स्वयं उन परिस्थितियों का अंग बन जाते हैं । सेकंडरी शिक्षा आयोग के समय ऐसा ही हुआ ।

आयोग ने वैधानिक और सामाजिक परिस्थितियों की चर्चा तो की परंतु इन मजबूरियों से ऊपर उठने का कोई सुझाव नहीं दिया । भाषा संबंधी वैधानिक धाराएं वैधानिक मजबूरियां बन गईं और ऐतिहासिक तथा वैधानिक स्थिति सामाजिक मजबूरी बन गई । आइए, इन दोनों को देखें :

विधान के अनुसार 15 वर्ष तक केंद्र की भाषा अंग्रेजी रहेगी । संसद यदि चाहे तो 15 वर्ष के बाद भी अंग्रेजी केंद्र की भाषा रह सकती है ।

किसी भी प्रदेश की विधान सभा विधिपर्वूक प्रदेश में प्रयोग होने वाली एक या अनेक भाषाओं को या हिंदी को राजकार्य के लिए अपना सकती है । जब तक विधान सभा ऐसा कानून पास न करे अंग्रेजी चलती रहे ।

इस समय प्रचलित केंद्रीय भाषा (अर्थात् अंग्रेजी) ही अंतर्राज्यीय तथा राज्य-केंद्र-संपर्क की भाषा रहेगी । यदि दो या अधिक राज्य चाहें तो हिंदी को अपना लें ।

यदि राष्ट्रपति ऐसा समझें कि किसी राज्य के नागरिक अपनी किसी भाषा का प्रयोग करना चाहते हैं तो वे उस भाषा के प्रयोग का आदेश दे सकते हैं । (रिपोर्ट, पृ० 59)

इन धाराओं का अर्थ यह हुआ कि राज्यों में हिंदी या अन्य भारतीय भाषा के द्वार बंद हो गए और बंद ही रहेंगे जब तक कि वे खोले न जाएं । अंग्रेजी का द्वार वहां खुला रहेगा जब तक कि उसे बंद न किया जाए । अंग्रेजी के द्वार बंद करने और भारतीय भाषाओं के दरवाजे खोलने का अधिकार विधान सभाओं को या राष्ट्रपति को दिया गया, पर वे खोलें तभी । यदि वे न खोलें तो अंग्रेजी चलेगी और चलती रहेगी । अंग्रेजी को 15 वर्ष के बाद भी चलते रहने देने का अधिकार संसद को दिया गया । यदि संसद ऐसा न करे तो 15 वर्ष के बाद हिंदी आ जाएगी लेकिन हो सकता है कुछ ऐसी मजबूरियां आ जाएं कि संसद को अंग्रेजी को चलते रहने देना पड़े । विधान सभाओं को तो मानो सोते रहने का पट्टा ही मिल गया ।

वैधानिक मजबूरियों की संभावनाओं के बाद परिस्थितियों की मजबूरियों को देखें । विश्वविद्यालयों में शिक्षा-माध्यम और केंद्र और राज्यों में शासन-माध्यम और सारे भारत में शिक्षित वर्ग की संपर्क-भाषा अंग्रेजी थी । अल्पसंख्यकों को वैधानिक अधिकार दिया गया था कि अपने मनमर्जी के शिक्षा संस्थान स्थापित कर लें, शिक्षा-माध्यम भी उसी स्वेच्छा का अंग था । ऐसे संस्थान अधिकतर मिशनरियों के स्थापित किए हुए थे जिनमें शिक्षा-माध्यम अंग्रेजी था । यहां शिक्षा-माध्यम संस्थापकों के अतिरिक्त कोई और नहीं बदल सकता था और अंग्रेजी तो उनकी संस्कृति, सभ्यता, धर्म, नीति और मानो अस्तित्व का अभिन्न अंग ही नहीं बल्कि आत्मा थी । उनमें प्रवेश पाना भी देश के ऊंचे वर्ग की महत्त्वाकांक्षा थी । अतः ये संस्थान देश की शिक्षा और शिक्षा साधनों के मानक समझे जाते थे । इन संस्थानों के माध्यम से इस विशाल बरगद की न केवल जड़ों को पानी मिलता था अपितु इसके छाया-विस्तार को सहारा देने वाली डाढ़ियों को भी सहारा मिल रहा था । इनके अतिरिक्त और कई केंद्रीय तथा राज्यीय और प्राइवेट संस्थान ऐसे थे जहां माध्यम अंग्रेजी था और जहां देश के उच्च शिक्षित वर्ग, व्यापारी परिवार और सरकारी अफसर अपने बच्चों को शिक्षार्थ भेजते थे । इन सभी संस्थानों में अंग्रेजी प्रथम कक्षा से नहीं तो तीसरी कक्षा से तो प्रारंभ होती ही थी । इन्हीं स्कूलों और कालेजों के स्नातक आगे चलकर देश के उच्चतम स्थानों पर आसीन होते थे । ऐसी परिस्थितियों में अंग्रेजी जैसी अन्नपूर्णा को छोड़कर किसी और भाषा की अर्चना कौन करेगा ?

आयोग की रिपोर्ट में उत्तर भेजने वालों के मत तो नहीं दिए गए पर उनका संक्षिप्त विवरण आयोग की अपनी भाषा में दिया गया है । रिपोर्ट के भाषा संबंधी भाग में निष्कर्ष निकालते समय आयोग ने कहा है कि माध्यम भाषा जैसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर सर्वसम्मति की आशा करना संभव नहीं है । वास्तव में जनवर्ग के मतभेद का प्रतिबिंब स्वयं आयोग के सदस्यों के विचारों और परस्पर बहस में दिखाई देने लगा । कुछ सदस्यों का विचार था कि अंग्रेजी का वह स्थान नहीं

बना रहना चाहिए जो आज है और वह अधिक से अधिक मिडल स्तर पर ऐच्छिक भाषा के रूप में पढ़ाई जाए । दूसरों का मत था कि आज की परिस्थितियों में विशेषकर क्षेत्रीय भाषाओं के विकास की स्थिति को देखकर और केंद्रीय भाषा (अंग्रेजी) के रहते यह आवश्यक है कि विश्वविद्यालय या दूसरे संस्थानों में उच्च शिक्षा के प्रत्याशियों को अंग्रेजी बहुत अच्छी तरह आती हो । इसके लिए आवश्यक है कि कम से कम मिडिल स्तर से अंग्रेजी अनिवार्य विषय हो ।

रिपोर्ट में सिफारिश की गई कि सेकंडरी स्तर पर शिक्षा-माध्यम मातृभाषा या क्षेत्रीय भाषा हो किंतु अल्पसंख्यकों को विशेष सुविधाएं दी जाएं । मिडल स्तर पर दो भाषाएं पढ़ाई जाए—हिंदी और अंग्रेजी, पर एक ही वर्ष में दोनों भाषाएं प्रारंभ न की जाएं ।

लोकतंत्र की शक्ति कहां से आती है ? लोक से । परंतु लोक की दर्शन शक्ति और मेधा शक्ति कहां है ? क्या लोकेच्छा की नियामक भी कोई शक्ति है, या लोकतंत्र अंधा है जो बिना देखे जिधर मुंह उठ जाए उधर ही चल देता है और केवल ठोकर लगने पर ही मजबूर होकर अपना रास्ता बदलता है ? लोकतंत्र की दर्शन शक्ति और मेधा शक्ति उसका शिक्षित वर्ग है जो उसे सही नेतृत्व प्रदान करता है । जब से भारत में स्वतंत्रता की ओर संकेत किया गया या स्वतंत्रता की मांग को दोहराया गया तभी से शिक्षा के नए उद्देश्यों पर बल दिया गया और कहा गया कि शिक्षा का उद्देश्य है चरित्र-निर्माण और नेतृत्व-निर्माण । कर्ज़न जैसे कट्टर साम्राज्यवादी ने भी ऐसा ही कहा था और उन जैसे लोग हमारी पंगु शिक्षा पद्धति और उसके द्वारा निर्मित युवकों की मानसिक दासता को देखकर रो दिए थे । स्वतंत्र भारत के उच्चतम शिक्षाविद् उच्चतम आयोगों की कुर्सियों पर बैठ कर क्या निदेश दे पाए ? परिस्थितियों की जकड़न में अंग्रेजीग्रस्त बुद्धि से केवल नौकरियों की ओर संकेत कर पाए । यह तो 1827 से ही हो रहा था । हमारा लोकतंत्र अपने आप से मजबूर, देखने में भी और करने में भी ।

29
चढ़ता सूरज, बढ़ती छाया

हम लोकतंत्र की अंग्रेजी प्रेमी मजबूरियों की चर्चा कर चुके हैं । मजबूरियां आंतरिक और बाहरी दोनों हो सकती हैं । मानसिक मजबूरियां आंतरिक हैं, प्राकृतिक मजबूरियां बाहरी हैं । सूखा, अतिवर्षा, बाढ़, भूकंप इत्यादि बाहरी मजबूरियां हैं । सामाजिक मजबूरियां आंतरिक और बाहरी दोनों हैं । शिक्षा और शासन के क्षेत्र में अंग्रेजी आदत का बने रहना, उसे तोड़ने की अनिच्छा और हिन्दी के कारण होने वाली आर्थिक और राजनीतिक आशंकाओं का भय, ये मजबूरियां आंतरिक और बाहरी दोनों प्रकार की थीं । देश का शिक्षाविद् और शिक्षित वर्ग इन मजबूरियों के नीचे टूट गया । स्वतंत्रता के चढ़ते सूरज के आलोक में अंग्रेजी की छाया बढ़ती गई । विचित्र समय था । अंग्रेजी साम्राज्य का सूर्य अस्त हो रहा था और अंग्रेजी भाषा का प्रभुत्व प्रशस्त हो रहा था ।

कोई भी मजबूरी अथवा कमजोर हमारे लोकतंत्र का अंग है, उसमें पाप-पुण्य की कोई बात नहीं है । लोकतंत्र क्या है ? एक स्वयंसिद्ध शक्तिसंपन्न समाज व्यवस्था—लोकस्य लोकेन लोकाय । लोक इसका निर्माण करता है और यह लोक के माध्यम से ही लोकार्थ काम करता है । लोकतंत्र समाज व्यवस्था के साथ-साथ शासन प्रणाली और जीवन-शैली भी है । जीवन-शैली होने के नाते यह लोकधर्म भी है किंतु परंपरागत किसी ईश्वर प्रणीत धर्म के रूप में नहीं, सेक्युलरिज़्म के रूप में । सेक्युलरिज़्म दर्शन की भाषा में कहलाएगा मानवधर्म और सामाजिक या वैधानिक भाषा में कहलाएगा लोकधर्म । धर्मनिरपेक्ष इसका सही अनुवाद नहीं है, केवल सापेक्ष अनुवाद है जिसे समझने के लिए परंपरागत धर्मों की विशेष परिभाषा की अपेक्षा है । इस्लाम क्या है ? हज़रत मुहम्मद साहब द्वारा प्रणीत अल्लाह प्रदत्त धर्म जिसका हज़रत के माध्यम से अवतरण हुआ । ईसाइयत ? हज़रत ईसा प्रणीत धर्म जिसका ईसा के माध्यम से अलहाम हुआ । हिंदू धर्म में किसी एक अवतार या पीर-पैगंबर की जकड़न तो नहीं है, न ही किसी एक मान्यता विशेष की अनिवार्यता है, किन्तु वह भी वेद से लेकर गुरु गोविन्द और रामकृष्ण तक जनप्रणीत तो नहीं है, ऋषिप्रणीत है । लोकधर्म लोकप्रणीत है, लोकेतर सत्ताप्रणीत नहीं है । लोकधर्म कभी सनातन नहीं होता, सर्वकालीन, सार्वभौम, नित्य और एकरस नहीं होता, बदलता रहता है । सनातन धर्म का लोकरूपांतर युगधर्म अवश्य होता है किंतु उसके पीछे भी सत्ता तो सनातन ही है । लोक-धर्म के पीछे सत्ता केवल लोक सत्ता होती है । लोकतंत्र के सभी निर्णय लोकधर्म तथा लोकसंहिता (विधान) के अनुसार होते हैं किंतु यदि किन्हीं परिस्थितियों में विधान पथ-प्रदर्शन नहीं करे या रास्ते का रोड़ा बन जाए तो उसे भी बदल दिया जाता है । अंततोगत्वा धर्मतंत्र और लोकतंत्र में

अंतर यह हुआ कि धर्मतंत्र में जो होता है, वह होता है धर्मतः, लोकतंत्र में जो होता है वह होता है लोकतः, मात्र लोकतः । लोकतंत्र में पुण्य-पाप सिद्धांत के लिए कोई स्थान नहीं है, हां अपने निर्णयों के लिए लोकतंत्र जिम्मेदार अवश्य है और उनके अच्छे-बुरे परिणामों को स्वीकार करता है । कर्म सिद्धांत ? फिर मजबूरी । जनता की आवाज लोकतंत्र का सत्य है, लोकमत उसका आधार है, विधान उसकी खुली संहिता है ।

विधान के अनुसार हिंदी को राजभाषा के रूप में स्वीकार किया गया था । अंग्रेजी से हिंदी में परिवर्तनार्थ 15 वर्ष का समय रखा गया था । इस वैधानिक निर्णय के अनुसार 1965 में हिंदी को अंग्रेजी के स्थान पर देश की राजभाषा (प्रशासन भाषा) के रूप में अपना लिया जाना चाहिए था । इस निर्णय के पीछे जो लोकदृष्टि रही, लोकमत रहा, वह सब विधान सभा के अंदर अभिव्यक्त हो चुका था । उसकी झलक विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग और सेकंडरी शिक्षा आयोग की रिपोर्टों में हम देख चुके हैं ।

किंतु एक बात विशेषतया विचारणीय है : प्रत्येक लोकध्वनि की प्रतिध्वनि में मानो भय की गूंज सुनाई देती है । उदाहरण के तौर पर अंगेजी का भारत में सत्तारूढ़ रहना स्वतंत्र भारत में अस्वीकार्य माना गया था । देशभक्ति की मांग थी कि देश की अपनी भाषा हो, विदेशी नहीं । थोड़ी ही देर बाद कह दिया गया कि देशभक्ति ही काफी नहीं है, हमें देश की सीमाओं से मुक्त होकर सोचना चाहिए अर्थात् अंग्रेजी के अविरुद्ध । देश के बहुसंख्यक जनवर्ग की भाषा देश की भाषा मानी जानी चाहिए और मानी गई, पर साथ में यह सुनने को मिलता है कि बहुसंख्यक वर्ग भी तो अल्पसंख्यक ही है । एक तरफ अंग्रेजी भाषा मात्र रटंत को बढ़ावा देती है, दूसरी ओर उसके बिना कोई चारा ही नहीं । एक तरफ अंग्रेजी भाषा जनतंत्र की अवहेलना है, दूसरी ओर न्यूनतम समानता का एकमात्र साधन है । राजनीति के बखेड़े में शिक्षा और साधन को उलझाकर अंग्रेजी को समता और सत्ता दोनों का प्रतीक बना दिया गया और जीवन-सिद्धि का साधन मान लिया गया । शिक्षेतर क्षेत्र में भी ये ही ध्वनियां सुनाई देती हैं । परिणाम यह हुआ कि बढ़ते भारत के ऐतिहासिक मोड़ पर भी अंग्रेजी हमारे युगधर्म का अंग बनी रह गई और हमारे लोकधर्म के रूप में हमारी ही इच्छा से पुनः प्रतिष्ठित हो गई । राजभाषा आयोग (1956) से लेकर विधान संशोधन (1967) तक की यही कहानी है । यह विचारों और मान्यताओं का उलटफेर स्वार्थचिंतन और परिस्थितियों के संदर्भ में संभाव्य अनिष्ट के भय के कारण होता है । विद्वानों ने यह भी कहा है कि स्वयं और समाज इन दोनों के हितों की संतुलित अर्थव्यवस्था का नाम लोकतंत्र है । हमारे विचारों, नीतियों और निर्णयों में जो परिवर्तन आते हैं वे सब इसी व्यवस्था संतुलन के नए-नए आयाम हैं ।

वैधानिक विचार-विनिमय के बाद हमारा नया-नया लोकतंत्र सोचता-समझता, लड़खड़ाता, आगे-पीछे देखता, धीमी गति से चला । भाषा संबंधी वैधानिक निर्णय ले लेने के बाद उसे पीछे तो देखना नहीं चाहिए था, पंद्रह वर्ष आगे देखकर उसे हिंदी के लिए तैयारी करनी चाहिए थी । पर उसने आगे देख तो दीखा भय । अतः उसने पीछे देखा और राहत की सांस ली । ऐसा

क्यों ? हमारा लोकतंत्र न तो क्रांत परिणाम था, न क्रांतदर्शी । फ्रांस का लोकतंत्र क्रांत परिणाम था, हमारा नहीं । हमारा था विकास-परिणाम और विकास-परिणाम के रूप में भी ब्रिटिश लोकतंत्र (कॉमनवेल्थ) के विकास-परिणाम का अंग था । अतः 1947 में मात्र सरकार बदली थी, विधान भी बदला था पर शासन प्रणाली नहीं बदली थी । हमारे नए शासन का आधार भी ब्रिटिशकालीन भारत था । 15 अगस्त 1947 को रात के बारह बजे नए भारत का मूलमंत्र भी अंग्रेजी में ही पढ़ा गया था । नया भारत अंग्रेजी पद्धति का एक नया अध्याय ही था । हमारे विधान की मूल प्रेरणाएं भी विदेशी हैं । यही कारण है कि जब कोई समस्या आके पड़ती है तो हम पश्चिम की ओर देखते हैं । भाषा के क्षेत्र में भी हम भारतीय भाषा को लाने के संबंध में अंग्रेजी हटाने की बात पहले करते हैं, हिंदी लाने की बाद में । अंग्रेजी को हटाने के लिए पहले अंग्रेजी की ओर देखते हैं और अंग्रेजी से समय बचे तो अपनी ओर ध्यान करते हैं । 1947 में हमारी समस्त शासन-व्यवस्था अंग्रेजी में जकड़ी थी । 1835 से 1947 तक हमारी शिक्षा-व्यवस्था अंग्रेजी शासन-प्रणाली और अंग्रेजी भाषा इन दोनों में जकड़ी थी । शिक्षा और भाषा की वह जकड़न 1947 के बाद चलती रही । लोकतंत्र कदम से कदम मिलाकर चलता है, छलांग मारकर नहीं । 1947 में प्रशासन को तो स्वतंत्रता मिल गई, पर भाषा और शिक्षा इन दोनों को नहीं मिली । अतः विधान में हिंदी के पक्ष में निर्णय ले लेने के बाद भी जब वास्तविक बदलाव का ध्यान आया तो हम अपनी ही स्वतंत्रता के बोझ के नीचे लड़खड़ाकर भविष्य से डरकर सहम गए । हमने पीछे देखा और अंग्रेजी की छाया में बैठ गए ।

विधान में अंग्रेजी के स्थान पर हिंदी का प्रावधान हो जाने के बाद राजभाषा पर ठोस विचार प्रारंभ हुआ । सरकार ने राजभाषा आयोग का गठन किया और आयोग ने अपना काम करने के लिए विविध वर्गों के विचारों का संकलन प्रारंभ किया, मानो वैधानिक निर्णय में या तो कुछ त्रुटियां रह गई थीं या निर्णय पूरे तौर पर लिया ही नहीं गया था, या लिया भी गया था तो उसे बदलने की आवश्यकता थी । होना तो यह चाहिए था कि हिंदी को सशक्त और समृद्ध बनाने की आवश्यकता यदि थी तो उसके लिए प्रयत्न करते । हिंदी और दूसरी भारतीय भाषाओं को निकट लाने के लिए शब्दावली का लेन-देन, आवश्यकतानुसार लिपि का सुधार, अखिल भारतीय आवश्यकताओं के अनुरूप एक लिपि का निर्माण, तकनीकी आवश्यकताओं के अनुरूप शब्दसंग्रह और शब्दरचना, अंतर्भाषायी व्याकरण की रचना, अखिल भारतीय और प्रादेशिक भाषाओं का परस्पर महत्त्व और तालमेल, अखिल भारतीय परीक्षाओं के लिए माध्यम का चुनाव इत्यादि व्यावहारिक विषयों पर विचार किया जाना चाहिए था । पर ऐसा नहीं हुआ । पुराने विषय ही ताजा होकर सामने आ गए । राजभाषा का प्रश्न फिर से खड़ा हो गया मानो पुनःविचार करने के बाद फिर से निर्णय लेना और उसको लागू करना दो अलग-अलग बातें हैं—इन दोनों के बीच यदि समयांतर है तो उस समय में निर्णय बदला भी जा सकता है । यदि संदेह ताजा हो जाएं या स्वार्थ-संतुलन बिगड़ जाएं या संतुलन बनाए रखने वाले दबाव ढीले पड़ जाएं तो । राजभाषा आयोग के गठन के समय ऐसा ही हुआ दीखता है ।

अंग्रेजी के पक्ष में, हिंदी के विरोध में तथा भारत की भाषायी एकता के विषय में पुनः विवाद प्रारंभ हो गया। यदि हम राज्भाषा आयोग की रिपोर्ट का अध्ययन करें तो कई तथ्य सामने आएंगे। अंग्रेजी विदेशी भाषा नहीं है क्योंकि डेढ़ सौ वर्ष के अभ्यास के बाद वह भारतीय भाषा बन चुकी है। 1947 से पहले परतंत्र भारत में तो अंग्रेजी गुलामी का प्रतीक थी पर स्वतंत्र भारत में वह स्वतंत्र भारत की समृद्ध भाषा और स्वतंत्र भारत की धरोहर बन गई है। फिर ऐसी धरोहर को फेंक देना और अपने को वंचित कर लेना तो ठीक नहीं। भारत के शिक्षित समाज की भाषा क्या है ? यह सवाल भी उठाया गया। उत्तर तो निश्चित ही था। शिक्षित समाज की भाषा तो अंग्रेजी है और उसे अपनी भाषा से वंचित क्यों किया जाए ? एक सवाल और उठा। क्या यह आवश्यक है कि देश की एकता के लिए केवल एक ही भाषा हो ? कैनेडा, स्विट्ज़रलैंड इत्यादि देशों में कई-कई भाषाएं होते हुए भी वे देश एक हैं, तो फिर भारत में ही एक भाषा क्यों हो ? यदि एक से अधिक भाषाएं भारत में हों तो भी तो देश की एकता बनी रह सकती है। देश की एकता तो अंग्रेजी भाषा की ही देन है, तब उसी एकता को बनाए रखने के लिए अंग्रेजी का ही बहिष्कार क्यों ? (रिपोर्ट, पृ० 30-38, 401-2)

इस सारे अंग्रेजी पक्षीय विवाद के साथ-साथ हिंदी की एकमात्र राजभाषा की मान्यता के विरुद्ध भी कड़ी दलीलें दी गईं। अंग्रेजी शासन काल में अंग्रेजी परतंत्रता का प्रतीक थी यह तो माना। यह भी माना कि भारतीय भाषा ही उस समय स्वतंत्रता का प्रतीक हो सकती थी। इसी कारण हिंदी (हिंदुस्तानी) को भारत की भाषा के रूप में मान लिया गया था। किंतु अब तो परिस्थितियां ही बदल चुकी हैं। अंग्रेजी के समकक्ष हिंदी को कैसे लाया जा सकता है ? हिंदी कितने लोगों की भाषा है ? बोलने वाले पूर्ण रूप से बहुसंख्यक तो नहीं हैं ? फिर कौन सी भाषा हिंदी है ? इसके अनेक रूप हैं—वे सब बोलियां ही तो हैं। जिसे हिंदी कहा जाता है वह तो चंद गिने-चुने लोगों की भाषा है। ये लोग हिंदी वर्ग विशेष अर्थात् हिंदी इलीट हैं और यदि वर्ग विशेष की भाषा को ही लाना है तो अंग्रेजी ही क्यों न रहे ? वह सारे भारत के वर्ग विशेष की भाषा तो है। और फिर हिंदी की क्षमता क्या है ? इसके समकक्ष और सभी भारतीय भाषाओं का साहित्य भी तो समृद्ध है। फिर हिंदी ही क्यों ? ये सब दलीलें राजनीतिक थीं। इनमें आधारभूत कुछ वास्तविकता भी थी। किंतु लोकतंत्र में तो उसी वास्तविकता के आधार पर उसी का सामाजिक अर्थात् समष्टि की दिशा में विकास और विस्तार होता है। उस दिशा-विकास में व्यष्टि या वर्गहित के कारण बाधाएं खड़ी हो गईं। अंग्रेजी काल में तो हिंदी का पक्ष अंग्रेजी के विरोध में स्वतंत्रता और आत्मसम्मान की खोज में लिया गया था। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद आत्मसम्मान की प्रतिष्ठा हो ही चुकी थी। अतः स्वतंत्र भारतीयों को अंग्रेजी भी अपनी लगने लगी। लोकतंत्र जिसे अपना समझे सो अपना, जिसे वह न अपनाए वह दूसरा।

हिंदी के पक्षधरों को यह हिंदी-विरोध अवैधानिक लगा। उनके मतानुसार हिंदी को वैधानिक मान्यता मिली थी, पर न तो इस कारण कि उसका साहित्य दूसरी भाषाओं की अपेक्षा समृद्ध था, न इस कारण कि उसमें अधिकतम साहित्य लिखा जा रहा था और न ही इस कारण कि उसको

साइंस और टेक्नोलजी के क्षेत्र में अधिक क्षमता अथवा सफलता प्राप्त हो चुकी थी। उसे केवल अखिल भारतीय स्तर पर बहुसंख्यक भाषा-भाषियों के आधार पर मान्यता मिली थी और लोकतंत्र में लोकमत का निश्चय केवल बहुमत से होता है। इसलिए हिंदी के अखिल भारतीय पक्ष के प्रश्न को नए रूप में खड़ा नहीं किया जा सकता। अंग्रेजी भले ही एक भारतीय भाषा मानी जाए पर वह हिंदी के सामने तो भारतीय रूप में खड़ी नहीं हो सकती। उनके मतानुसार हिंदी ने अंग्रेजी का स्थान लेने का दावा नहीं किया था, हिंदी को केवल अपना स्थान मिला था। उसे अंग्रेजी की स्थानापन्न भाषा कहना गलत होगा, उसे केवल अपना स्थान अपने बल पर मिला था।

अंग्रेजी के पक्षधर इन दलीलों से राजनीतिक स्तर पर परेशान हुए। राजभाषा के स्तर पर तो वे अंग्रेजी चाहते ही थे, संपर्क-भाषा के स्तर पर भी उन्हें हिंदी मान्य नहीं थी। यदि हिंदी के माध्यम से संपर्क होना है तो यह किन लोगों के बीच होगा ? मात्र हिंदीविद् इलीट के बीच। अंग्रेजीविद् इलीट तो इससे देश की मुख्य धारा से कट जाएंगे। अंग्रेजी-प्रेमियों को कोई भी दलील हिंदी के पक्ष में मान्य नहीं थी। न तो यह कि हिंदी बहुसंख्यकों की भाषा है, न यह कि अंग्रेजी के स्थान पर हिंदी शीघ्रातिशीघ्र आ जाए और न यह कि सारे देश में एक ही भाषा होना देश के लिए आवश्यक है। एक दलील तो अजीब ही थी। उनका कहना था कि संपर्क भाषा भी किनके लिए होती है यह विचारणीय है। देश की अधिकतर जनता तो गांव में ही रहती है जिसे अखिल भारतीय संपर्क की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। तो उनके लिए तो संपर्क-भाषा कोई भी हो, हिंदी या अंग्रेजी। और यदि हिंदी या अंग्रेजी में से कोई सी भाषा संपर्क-भाषा हो सकती है तो अंग्रेजी ही क्यों न चलती रहे ? अंग्रेजी के सामने सब बराबर। हिंदी यदि समता दे पाएगी तो केवल हिंदी-भाषियों को। हिंदीतर क्षेत्र की जनता तो पीछे रह जाएगी। उनके विचार में हिंदी सीखना उतना ही कठिन था जितना किसी विदेशी भाषा को सीखना। और यदि विदेशी भाषा ही सीखना है तो अंग्रेजी ही क्यों न सीखें ? संक्षेप में यह कहना चाहिए कि हिंदी के पक्षधर तो चाहते थे कि वैधानिक प्रावधान के अनुसार हिंदी राजभाषा के रूप में अवश्य आनी चाहिए और अंग्रेजी के पक्षधर चाहते थे कि हिंदी को जितनी देर तक रोका जा सके रोकना चाहिए ताकि अंग्रेजी चलती रहे। प्रश्न भारतीय राजभाषा का नहीं रहा, हिंदी और अंग्रेजी स्पर्धात्मक प्रश्न बन गया। हिंदी अंग्रेजी का स्थान ले या नहीं ? प्रश्न का यह रूप बनते ही बात 1835 पर पहुंच गई और अंग्रेजी के पक्ष में 120 वर्ष के इतिहास का समय-बल भी आ गया जो लार्ड मकाले को उपलब्ध नहीं था।

हिंदी-अंग्रेजी के इस विवाद के बीच राजभाषा आयोग ने अपनी रिपोर्ट दे दी जो 1958 में मान ली गई। रिपोर्ट के अनुसार वैधानिक प्रावधान के अनुरूप 1965 में अंग्रेजी राजभाषा नहीं रहनी चाहिए थी। हिंदी ही राजभाषा होगी ऐसी कल्पना करके वही सिफारिश की गई थी। अंग्रेजी का स्थान अपने आप गौण रह जाना था। 1960 में राष्ट्रपति महोदय की ओर से एक अध्यादेश जारी किया गया कि राजभाषा आयोग की सिफारिशें लागू कर दी जाएं। मुख्यतम आदेश यह था कि साइंस टेक्नोलजी, प्रशासन और विधि-विधान संबंधी हिंदी शब्दावली तैयार

की जाए और व्यावहारिक हिंदी का विकास किया जाए जो प्रशासन और अदालती काम में प्रयोग में लाई जा सके। राष्ट्रपति के अध्यादेश के जारी होते ही हिंदी-विरोधी आशंकाएं और भय मानो साकार होने लगे। नेता लोग जागे मानो उनके क्षेत्रीय व्यक्तित्व को ठेस लगी हो अथवा अंग्रेजी की देन को ग्रहण लगने वाला हो। आयोग की रिपोर्ट और राष्ट्रपति का अध्यादेश इस बात का प्रमाण तो थे ही कि हिंदी की गाड़ी गति पकड़ने वाली है। हिंदी पक्ष में जो वैधानिक प्रावधान हो चुका था उसी को कार्यान्वित करने का प्रयास किया जा रहा था। कोई अवैधानिक बात नहीं की जा रही थी। उसी का भय क्यों ? विरोध भी क्यों ? यह प्रश्न जब हिंदी विरोधियों के मन में उठा तो भय और शंका दोनों का एक ही समाधान सूझा। हिंदी की गति को धीमा करके प्राप्य लक्ष्य को दूर रखा जाए और प्राप्त लक्ष्य को खोया न जाए। उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्त-वरान्निबोधत।

हिंदी-विरोधी सोए नहीं थे, सजग थे। सरकार की ओर से जैसे-जैसे हिंदी के पक्ष में प्रयास किए जाने लगे, हिंदी-विरोधी आंदोलन भी जोर पकड़ने लगा। हिंदी-विरोधियों के सामने दो लक्ष्य थे : एक यह कि हिंदी को अहिंदी-भाषी क्षेत्रों पर लादा न जाए बल्कि परस्पर बातचीत से भाषा-समस्या को सुलझाया जाए। दूसरा यह कि यदि हिंदी को लागू कर भी दिया जाए तो भी अंग्रेजी चलती रहे और हिंदी के साथ अंग्रेजी को सहभाषा के रूप में मान लिया जाए। इसी कारण यह समझा गया कि अंग्रेजी को हटाने और हिंदी लागू करने की निश्चित समय-रेखा को उदारतापूर्वक आगे बढ़ाया जाए ताकि हिंदी के पक्ष में न केवल वैधानिक निर्णय को ही लागू किया जाए बल्कि भावनात्मक सौहार्द भी प्राप्त कर लिया जाए। लोकतंत्र में जन-भावना बड़ी ही आवश्यक सामाजिक निधि होती है। सारी हिंदी-विरोधी ताकतें इस काम में जुट गईं। कामराज और नाडार में समझौता हुआ, द्रमुक को भी शक्ति मिली और उन्होंने हिंदी-विरोधी आंदोलन को तेज कर दिया। हिंदी को अन्याय और साम्राज्यवाद का प्रतीक माना गया और इस हवा में राष्ट्रीय ध्वज और विधान का भी अपमान किया गया। तमिल संस्कृति संस्थान ने 1956 में मद्रास में संघ भाषा सम्मेलन किया था। सम्मेलन में एक हिंदी-विरोधी प्रस्ताव पास किया गया जिसमें यह कहा गया था कि जब करीब दस करोड़ जनता हिंदी से पूर्णतया अनभिज्ञ है तो अंग्रेजी के स्थान पर हिंदी या किसी और भाषा को लागू करना इस जनता के प्रति घोर अन्याय होगा। देश के बड़े-बड़े नेताओं ने इस सम्मेलन का आह्वान किया था। उन नेताओं में प्रमुख थे चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य। सम्मेलन में पंजाबी, तमिल, तेलुगू, मलयालम, मराठी, कन्नड़, असमिया, उड़िया, बंगला इत्यादि भाषाओं के प्रतिनिधियों ने भाग लिया था। सम्मेलन में राजगोपालाचार्य ने यह कहा था कि हिंदी-भाषियों के लिए अंग्रेजी जितनी विदेशी है, अहिंदी-भाषियों के लिए हिंदी भी उतनी ही विदेशी है और हम उन शक्तियों का विरोध करने में जुटे हैं जो हिंदी को अहिंदी-भाषियों पर थोपने पर तुली हैं। फ्रैंक एंटनी ने तो यहां तक कह दिया था कि हिंदी एक प्रतीक है—जातिवाद, संघवाद, अप्रगति, साम्राज्यवाद और आतंक का। सम्मेलन ने यह मांग की कि देश में अंग्रेजी बिना किसी समय-रेखा के जारी रखी जाए क्योंकि देश की एकता के लिए

हिंदी एक खतरा बन गई है। सम्मेलन का वास्तविक मत था कि अंग्रेजी चले और हिंदी कभी न आए। सम्मेलन की कार्यवाही को छापा गया, जिसका शीर्षक था : 'आज का भारत हिंदी को रिजेक्ट करता है'। इस विषय का पूर्णरूपेण अध्ययन किया गया है और 'दि लैंग्वेज प्रॉब्लम ऑफ इंडिया', 1957 (एसोसिएशन फार दि एडवांसमेंट आफ नेशनल लैंग्वेज ऑफ इंडिया), 'दि द्रविडियन मूवमेंट', 1965 (राबर्ट हार्डग्रेव जूनियर), और 'लैंग्वेज कॉन्फ्लिक्ट एंड नेशनल डेवलपमेंट' (जे० दासगुप्ता) में इस विषय पर बहुत प्रकाश डाला गया है। इन अध्ययनों से तथा सामयिक समाचारपत्रों से पता चलता है कि जैसे-जैसे स्वतंत्रता का सूर्य चढ़ता गया अंग्रेजी की छाया बढ़ती चली गई।

इस आंदोलन की आवाज सरकार तक पहुंची। सरकार को दोनों बातों पर विचार करना पड़ा। परिणामतः यह सोचा गया कि यदि हिंदी के साथ-साथ अंग्रेजी भी सहभाषा के रूप में चलती रहे तो भाषा-विवाद शांत हो सकता है। नेहरू जी ने संसद में कहा कि हिंदी संबंधी वैधानिक प्रावधान पर मतभेद और हठधर्मी को भुलाकर सहानुभूति और वार्तालाप का रास्ता अपनाया जाए तो ही देश के लिए हितकर होगा। उन्होंने 5 सितंबर, 1959 को संसद को विश्वास दिलाया कि राजभाषा के रूप में हिंदी के साथ-साथ अंग्रेजी भी सहभाषा के रूप में रहेगी और वह कब तक सहभाषा के रूप में चलेगी इस बात का फैसला अहिंदी-भाषी लोग ही करेंगे, केवल वे। कुछ समय के पश्चात् भारत सरकार ने ही घोषणा कर दी कि हिंदी के राजभाषा बनने के बाद भी अंग्रेजी सहभाषा के रूप में प्रयोग में लाई जाएगी।

सरकारी घोषणा के बाद प्रश्न वास्तविकता का नहीं केवल औपचारिकता का रह गया था। इस प्रश्न पर अंतरिम विधान सभा तथा शिक्षा आयोगों एवं समाचारपत्रों में इतनी बहस हो चुकी थी कि कोई शक रह नहीं गया था। एक प्रकार का नया भाषा-व्यापार सामने आ गया था मानो भाषा पढ़ने की अपेक्षा भाषा से बढ़ना आवश्यक था। हिंदी-भाषी लोगों को सरकारी नौकरियों में आसानी रहेगी और अहिंदी-भाषी लोग हिंदी भाषा-अध्ययन की कठिनाई के कारण पीछे रह जाएंगे। यह आशंका बन गई थी। इसकी ओर राधाकृष्णन् आयोग ने भी ध्यान दिलाया था। इसी परिप्रेक्ष्य में अगस्त 1961 में भारत के मुख्यमंत्रियों का एक सम्मेलन बुलाया गया। सम्मेलन ने यह निर्णय लिया कि हायर सेकंडरी स्तर पर विद्यार्थी तीन भाषाओं का अध्ययन करें :

1. क्षेत्रीय भाषा या मातृभाषा
2. हिंदी अथवा कोई और भारतीय भाषा
3. अंग्रेजी अथवा कोई और यूरोपीय भाषा

ध्येय यह था कि मात्र भाषा के कारण कोई पीछे न रह जाए और भाषा के क्षेत्र में सभी को समान अवसर मिले चाहे वह आसानी या कठिनाई किसी के माध्यम से मिले। समस्या केवल भाषा की ही न थी, देश के भावनात्मक एकता की भी थी। 1961 में एक राष्ट्रीय एकता सम्मेलन बुलाया गया। सम्मेलन ने भी इस तीन भाषायी फार्मूले का समर्थन कर दिया। अब तो केवल इसको औपचारिक रूप से सरकारी तथा वैधानिक स्तर पर स्वीकार करने की बात रह गई थी।

कांग्रेस कार्यकारिणी ने एक प्रस्ताव पास किया जिसमें यह कहा गया कि विधान में संशोधन किया जाए और नेहरू जी ने जो आश्वासन अंग्रेजी के सहभाषा बनने के संबंध में संसद् में दिया था उसे वैधानिक मान्यता दी जाए। परिणामतः 1963 में विधान में संशोधन किया गया कि यद्यपि भारत के स्वतंत्र गणतंत्र बनने के 15 वर्ष पश्चात् हिंदी को अंग्रेजी के स्थान पर राजभाषा के रूप में प्रयोग में लाया जाना है तो भी, इस प्रावधान के बावजूद, संघ के सभी प्रशासन संबंधी कार्यों में तथा संसद् के कार्यों में हिंदी के अतिरिक्त अंग्रेजी को उन 15 वर्षों के बाद भी प्रयोग में लाया जा संकता है।

विधान-संशोधन तो हो गया, पर हिंदी-विरोधियों का काम 'अंग्रेजी को प्रयोग में लाया जा सकता है' से नहीं चलता था। 'सकता है' से तो अंग्रेजी की लड़ाई अधूरी रह गई। इसलिए आंदोलन फिर से खड़ा हो गया—'प्रयोग में लाया जा सकता है' के स्थान पर विधान यह आदेश दे कि अंग्रेजी को 'प्रयोग में लाया जए'। अतः 17 फरवरी 1965 को मद्रास में हिंदी-विरोधी एक सम्मेलन बुलाया गया। 26 जनवरी को गणतंत्र दिवस के रूप में न मनाकर काले दिन के रूप में मनाया गया। आंदोलन का परिणाम हुआ 1967 का विधान संशोधन ऐक्ट। संशोधन के अनुसार हिंदी के साथ-साथ अंग्रेजी को सह-राजभाषा का स्थान दे दिया गया। कब तक के लिए ? जब तक अहिंदी-भाषी राज्य चाहें तब तक। विधान यह कहता है कि जब तक अहिंदी-भाषी राज्य अंग्रेजी के विरुद्ध केवल हिंदी के पक्ष में निर्णय न लें अंग्रेजी सह-राजभाषा के रूप में प्रयोग में लाई जाएगी।

शिक्षा-माध्यम तो राजभाषा के पीछे-पीछे चलेगा ही।

30
आगे देखो, पीछे चलो

शिक्षक, शोधक, लेखक ये राष्ट्र की दर्शन शक्ति होते हैं। ये देखते हैं, सोचते हैं, कहते हैं। ये चलते भी हैं और चलने को कहते भी है, पर ये चला सकते भी हैं या नहीं यह संदेह का विषय है, विश्वास का नहीं। इसी कारण यह भी आवश्यक नहीं कि प्रत्येक शिक्षक, शोधक या लेखक युगमानव भी हो। युगमानव तो द्रष्टा और स्रष्टा दोनों होता है। किंतु आज के युग में स्रष्टा का स्थान द्रष्टा के अतिरिक्त और बहुत लोगों ने ले लिया है और परिणाम यह हुआ है कि दृष्टि के बिना स्रष्टा को यह पता ही नहीं कि सर्जन करना है तो किसका, कैसे और किस दिशा में ! देखने वाले देखते हैं पर चला नहीं पाते। चलाने वाले चलाते हैं पर देख नहीं पाते। चलाने के लिए दिशाज्ञान चाहिए। दृष्टि के बिना दिशा नहीं। चलने वाले न देख पाते हैं, न दिशा जानते हैं। वे पीछे चलते हैं। हमारे स्वतंत्रता-युग के शिक्षा क्षेत्र में कुछ ऐसा ही दीखता है। डा० राधाकृष्णन्, डा० आयंगर, डा० कोठारी—ये हमारे शिक्षा-युग के द्रष्टा थे। इन्होंने हमारे इतिहास को देखा, परिप्रेक्ष्य को देखा, भविष्य को भी देखा, जो देखा सो कहा भी, पर ये न स्रष्टा थे, न शासक, न चालक। चलाने वाले खड़े रहे, चले तो चलते समय आगे की अपेक्षा पीछे चले। द्रष्टा मात्र दर्शक बनके रह गए।

विश्वविद्यालय आयोग 1948 में बना था, 1949 में उसकी रिपोर्ट पेश की गई थी। पंद्रह वर्ष में ही तीसरा शिक्षा आयोग बनाने की आवश्यकता पड़ गई। इसी बीच में सेकंडरी शिक्षा आयोग बन चुका था और उसकी रिपोर्ट पर भी विचार किया जा चुका था। इन्हीं पंद्रह-सोलह वर्षों में यह भी दीखने लगा था कि राष्ट्र के अंदर कौन-कौन सी निर्माण-संबंधी समस्याएं उभरकर आने लगी हैं। शिक्षा समस्या, भाषा समस्या, भाषा के आधार पर राज्य पुनर्गठन समस्या, अनेकता में एकता की समस्या और भावात्मक एकता। देश एकजुट होकर एक राष्ट्र बना नहीं था, उस दिशा में अग्रसर हो रहा था। इसी दिशा की ओर विश्वविद्यालय आयोग ने संकेत किया था जब उन्होंने कहा था कि अंग्रेजी तो स्वतंत्रता की अवहेलना है और राष्ट्र की मांग है कि एक भारतीय भाषा राष्ट्र की भाषा हो। यही एक भाषा राष्ट्र की स्वतंत्रता और गणतंत्र का आधार मानी गई थी। बाद में इसी भाषा के संबंध में कई आशंकाएं उठाकर उसे हिंदीवाद का आधार मान लिया गया और राष्ट्र और स्वतंत्रता-समता के पक्ष में अंग्रेजी का समर्थन कर दिया गया। यह दुहरापन आने वाले भाषा-विवाद का प्रारूप था जिसका रूप हम देख ही चुके हैं। जिस समय शिक्षा आयोग की नियुक्ति हुई (1964), उस समय तक तीन

भाषायी फार्मूला माना जा चुका था और नेहरू जी संसद में यह आश्वासन दे चुके थे कि पंद्रह वर्ष के बाद भी अंग्रेजी चलती रहेगी, हिंदी के लागू करने में अहिंदी-भाषी क्षेत्रों की राय ली जाएगी और हिंदी को किसी की भावनाओं के विरुद्ध थोपा नहीं जाएगा। दक्षिण में हिंदीतर पक्ष-धरों के सहयोग से हिंदी-विरोधी आंदोलन जोर से चल रहा था और कामराज जैसे वरिष्ठ कांग्रेस नेता उसका संचालन कर रहे थे। इन सब गतिविधियों से एक ही निष्कर्ष निकल रहा था : एक राष्ट्र के लिए केवल एक ही राष्ट्रभाषा का होना आवश्यक नहीं है। शिक्षित वर्ग तो इस बात को कई बार कह चुका था कि स्विट्ज़रलैंड और कैनेडा जैसे देशों में कई-कई राष्ट्रभाषाएं हैं। तीन भाषा फार्मूले से एक बात सिद्ध हो चुकी थी : क्षेत्रीय भाषाएं भी हिंदी के साथ-साथ अपना महत्त्व रखती हैं और अभी तो अंग्रेजी का महत्त्व भी ऊंचा दिखाई दे रहा है। हिंदी के मुहूर्त के टलते-टलते उसकी काल-रेखा भी टल चुकी है। और एक विदेशी भाषा तो आवश्यक है ही, तो फिर अंग्रेजी ही क्यों नहीं। अहिंदी-भाषी क्षेत्रों के लिए अंग्रेजी और हिंदी तो एक ही हैं, एक विदेशी, दूसरी विदेशी जैसी। ये सारी गतिविधियां शिक्षा आयोग को मालूम थीं। परिस्थितियां बहुत बदल चुकी थीं और बदल रही थीं।

रिपोर्ट का मुख्य आशय अध्यक्ष के उस पत्र में है जो उन्होंने रिपोर्ट भेजते समय शिक्षा मंत्री को लिखा था। उन्होंने लिखा : आज केवल एक ही बात अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। आज की दुनिया तीव्र गति से बदल रही है। कल की शिक्षा पद्धति आज काम नहीं देगी, और आने वाले समय में तो काम देगी ही नहीं। अतः हमें अपनी पुरानी शिक्षा पद्धति की जकड़न से निकल जाना चाहिए। डॉ० राधाकृष्णन् संस्कृत और पुरातन इतिहास के प्रकांड पंडित थे। स्वतंत्रता संग्राम के दौरान भारतीय इतिहास, साहित्य और धर्मानुशीलन की अपनी भूमिका रही थी। स्वतंत्र भारत औपनिवेशिक युग से निकलकर अपने स्वतंत्र गौरव और स्वत्व की ओर बढ़ रहा था, अतः उसकी शिक्षा और राष्ट्रीयता के अंदर नवीनता और प्राचीनता दोनों का सन्निवेश होना उचित था। 1964 तक नये पुराने, देशीय-विदेशीय प्रश्न उभरकर इस रूप में सामने आ चुके थे कि देश की प्राचीन परंपरा के स्थान पर सत्ता, शक्ति और समृद्धि अधिक आवश्यक थी। भाषायी वाद-विवाद सैद्धांतिक स्तर पर हल हो ही गया था क्योंकि तीन-भाषायी सिद्धांत माना जा चुका था। इस कारण से शिक्षा आयोग के सामने प्रथम समस्या शिक्षा-पद्धति की थी, शिक्षा-माध्यम की नहीं थी। आयोग की रिपोर्ट में शिक्षा-पद्धति के अंतर्गत माध्यम की बात तो की गई है किंतु गौण रूप से। आयोग मानो यह जानता था कि तीन भाषायी फार्मूले के रहते कोई नई बात कहना या नये विवाद में पड़ना ठीक नहीं होगा। प्रश्न एक ही था : शिक्षा पद्धति कैसी हो जो परिवर्तनशील समाज की बढ़ती आवश्यकताओं के अनुरूप हो और जिसमें से गुजरकर प्रत्येक व्यक्ति राष्ट्र-निर्माण और सामाजिक पुनर्गठन की नयी दिशाओं में आर्थिक विकास, सामाजिक और राजनीतिक समन्वयीकरण और सांस्कृतिक अभ्युदय के क्षेत्र में अपना पूरा योगदान दे सके। और यही नहीं, शिक्षा ऐसी हो कि समूचा राष्ट्र अपने स्वत्व और स्वायत्तता की रक्षा करता हुआ अंतर्राष्ट्रीयता के क्षेत्र में भी एक सराहनीय भूमिका निभा सके। भाषा ? वही जो चले और

संगति, प्रगति, संचार और सहयोग का सशक्त माध्यम बन सके या हो।

आयोग ने भाषा समस्या को छोड़ा भी नहीं। उसके वास्तविक महत्त्व को समझा भी, पर उसे राजनीतिक प्रश्न के रूप में उलझाया नहीं। उन्होंने भाषा के तीन पक्षों को देखा :

1. भाषा जो अनुभूति और ज्ञान का माध्यम हो,
2. भाषा जो शिक्षा का माध्यम हो, और
3. भाषा जो प्रशासन का माध्यम हो।

इन तीनों क्षेत्रों में भाषा चाहे एक हो चाहे अनेक, पर तीनों में तालमेल होना चाहिए। केवल इतना कहकर उन्होंने अपने को भाषा-विवाद से बचा लिया। वे जानते थे कि जीवन की पहली अनुभूतियों और प्रारंभिक ज्ञान का माध्यम तो मातृभाषा ही है और तत्पश्चात यदि मातृभाषा किसी क्षेत्रीय भाषा का रूपांतर है तो आगे शिक्षा का माध्यम क्षेत्रीय भाषा ही होगी। समस्या तो शिक्षा की है, भाषा केवल माध्यम है। प्रशासन की भाषा अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। प्रशासन की भाषा का शिक्षा और व्यवसाय से गहरा संबंध है। वह जो भी हो अपना महत्त्व रखेगी और शिक्षार्थी वर्ग के लिए मार्ग-निर्देश भी करेगी। ये सारी बातें क्षेत्रीय भाषाओं की ओर संकेत करते-करते अंग्रेजी और हिंदी की ओर संकेत तो करती हैं पर आयोग ने इस विषय में कोई पूर्वाग्रह नहीं रखा था।

भाषा के क्षेत्र में आयोग ने वही बातें कहीं जो पहले से चल रही थीं। हिंदी के विषय में उन्होंने लिखा : कई बार ऐसा कहा जाता है कि सारे देश में विश्वविद्यालय स्तर पर एक ही माध्यम हो जो अभी तो अंग्रेजी है पर उचित समय पर हिंदी होना चाहिए। अखिल भारतीय एक माध्यम के पक्षधरों का कहना है कि एक माध्यम (हिंदी) से अध्यापक और विद्यार्थी सारे भारत में आ-जा सकेंगे। शिक्षा, व्यवसाय और प्रशासन के क्षेत्र में भी सहयोग बढ़ेगा। आयोग ने एक भाषा के ये सारे लाभ तो सुने और हिंदी के पक्ष में विशेषतया सुने। पर ये सभी दलीलें तो स्वतंत्रता से पहले से ही दी जा रही थीं और स्वतंत्रता के बाद तो वे जोर पकड़ चुकी थीं। जितना जोर वे पकड़ती थीं उतना ही उनका विरोध भी हुआ था और हो रहा था। अतः आयोग ने अपना मत यही बनाया कि भाषा समस्या का हिंदी समाधान व्यावहारिक नहीं रहेगा। यदि हमने हिंदी पर ही जोर दिया तो इसका अर्थ यह होगा कि हम हिंदी के लिए लड़ते रहेंगे और अंग्रेजी अनिश्चित काल के लिए चलती रहेगी। ऐसी स्थिति को आयोग मानने को तैयार नहीं था क्योंकि यह देश के हित में नहीं था। आयोग ने स्पष्ट शब्दों में यह कहा कि सारे भारत में हिंदी को शिक्षा-माध्यम के रूप में लाना संभव नहीं होगा। अहिंदी-भाषी क्षेत्रों में इसका विरोध होगा, क्योंकि वहां तो हिंदी एक विदेशी-सी ही भाषा होगी। इसलिए बुद्धिमत्ता इसी बात में है कि विश्वविद्यालय स्तर पर जो क्षेत्रीय भाषाएं आ रही हैं उन्हें आने दिया जाए और उनकी गति को अवरुद्ध न किया जाए। हां, विश्वविद्यालय में उच्चतर शिक्षा के लिए सारे देश में एक भाषा पर ही बल दिया जाना चाहिए। (रिपोर्ट, पृ० 14)

हमारे भाषा-माध्यम संबंधी चिंतन की एक विशेषता रही है, वह यह कि अंग्रेजी की